

# चौमासा

वर्ष-29 अंक-90  
नवम्बर, 2012 -फरवरी, 2013

प्रधान सम्पादक  
श्रीराम तिवारी

सम्पादक  
अशोक मिश्र

अतिथि सम्पादक  
डॉ. धर्मेन्द्र पारे



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

### सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com

### मूल्य

एक प्रति बीस रुपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रुपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रुपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रुपये

### प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

### आवरण

कोल जनजातीय माटी कला, छाया- अकादमी संकलन से

### शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

### मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल- भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

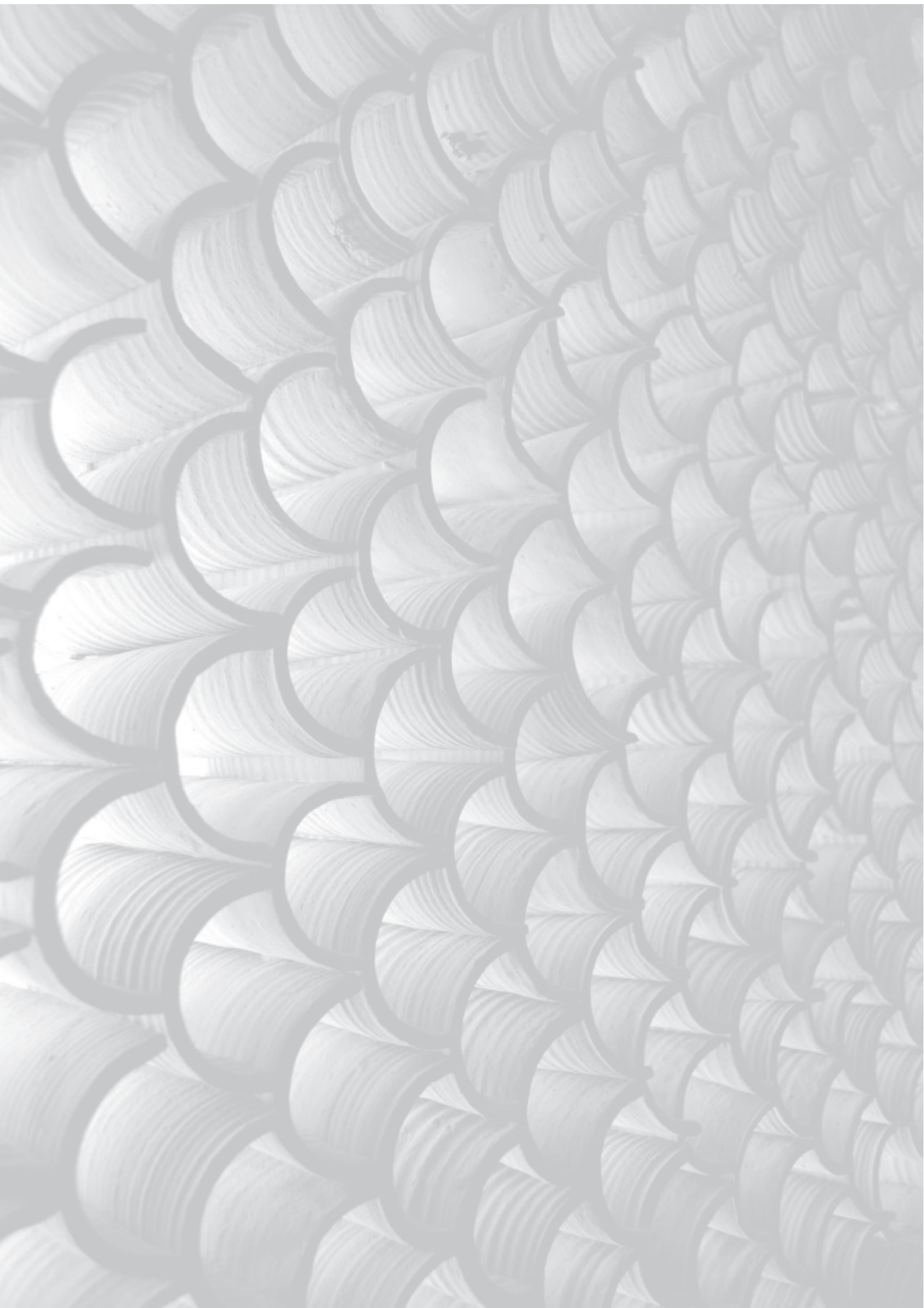
सम्पादक-अशोक मिश्र

लोक साहित्य का अध्ययन, संकलन, सर्वेक्षण, दस्तावेजीकरण कार्य भारत में अब एक पहचान बना चुका है। इस दिशा में कई मानक कार्य सम्पन्न हुए हैं। कई व्यक्तियों ने संस्था का पर्याय बनकर मिशाल कायम की है। कई संस्थाओं ने इतिहास रचे हैं। इस सबके पीछे कौन लोग सक्रिय रहे हैं? सामान्यतः उनके विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं है। लोक साहित्य अध्ययन-अध्यापन के लिए अमेरिका और यूरोप में तो विधिवत् पाठ्यक्रम हैं ही। भारत में भी कई विश्वविद्यालय अब लोकसंस्कृति विषयक पाठ्यक्रम वैकल्पिक रूप से संचालित कर रहे हैं। कतिपय जगह पूर्ण कालिक पाठ्यक्रम के प्रयास भी हो रहे हैं। ये सारे प्रयास मौखिक को लिखित में प्रस्तुत करने के ज्यादा हैं, वाचिकता को गहराई से जानने के कम।

लोकसाहित्य पर काफी सामग्री प्रकाश में आती जा रही है। इस सामग्री को प्रकाश में लाने का कार्य कौन लोग करते रहे हैं? यह जिज्ञासा सहज ही होती है। इसी सोच के चलते लोक साहित्य अध्येता अंक की कल्पना की गई। इस लिहाज से लोक साहित्य अध्येता अंक एक बानगी है- वितान नहीं। हमारी कोशिश थी कि इस क्षेत्र में जिन अध्येताओं ने अपना दाय पूर्ण कर दिया है, उनके विषय में जानकारी दी जा सके। लोक साहित्य के संकलन-सर्वेक्षणकर्ताओं ने अलग-अलग जनपदों में कार्य किया और कहीं अपने आसपास उपलब्ध प्रकाशन सुविधाओं का लाभ लिया। वैयक्तिक प्रयासों की सीमाओं में यह सामग्री अप्राप्त सी ही है। जनजातीय वाचिक साहित्य पर तो देशभर में और भी कम कार्य किया गया है। जिन्होंने किया है, वे भी कम ही रेखांकित हुए हैं। जनजातीय वाचिक साहित्य के अध्येताओं की कमी कई मंचों पर महसूस की जा रही है। इस दिशा में रूचि सम्पन्न युवाओं को समयानुकूल पहल करना चाहिए। बहुत सी लोकविधाएँ अगर विलुप्त हुई हैं तो कुछ नई तैयार भी हो रही हैं, इस पर अध्येताओं का ध्यान जाना शेष है। निमाड़-मालवा में कलगी-तुरा अतीत की बात है, तो इसी अंचल में एक नई विधा 'लंगड़ी भजन' अपनी उपस्थिति हजारों-हजार दर्शकों को रात-दिन अपलक देखते-सुनते दर्ज करा रही है। नवधा भक्ति के प्रकार नाम स्मरण से निःसृत 'रामसत्ता' ने विभिन्न जनपदों में कई परिवर्तन अख्तियार कर लिये हैं। अध्येता इन विधाओं और रूपों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वेक्षण कर ही सकते हैं। अन्य अंचलों में भी नवोदित विधाओं को तलाशा जाना चाहिए। हमारे प्रयासों के बाद भी कुछ अध्येताओं पर आलेख नहीं मिल सके हैं। यदि आपको छूटे हुये अध्येताओं के विषय में कोई आलेख प्रकाशित न हो पाने का अफसोस है, तो प्रथमतः आपको नाम इंगित करने की बजाय इस दिशा में शीघ्र पहल करना चाहिए। हमने सृजन-सक्रिय अध्येताओं को यह सोचते हुए इस अंक में अभी शामिल नहीं किया है कि उनका सम्पूर्ण प्रदेय आना अभी शेष है। अकादमी से अपेक्षा करना चाहिए कि वह सृजन सक्रिय अध्येताओं पर भी क्रमशः सामग्री प्रकाशित करेगी। इससे अन्य जिज्ञासु अध्येता उर्जा ग्रहण कर सकेंगे। हमारे अल्प आग्रह पर सुधि लेखकों ने अपनी रचनाएँ प्रेषित की है। हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

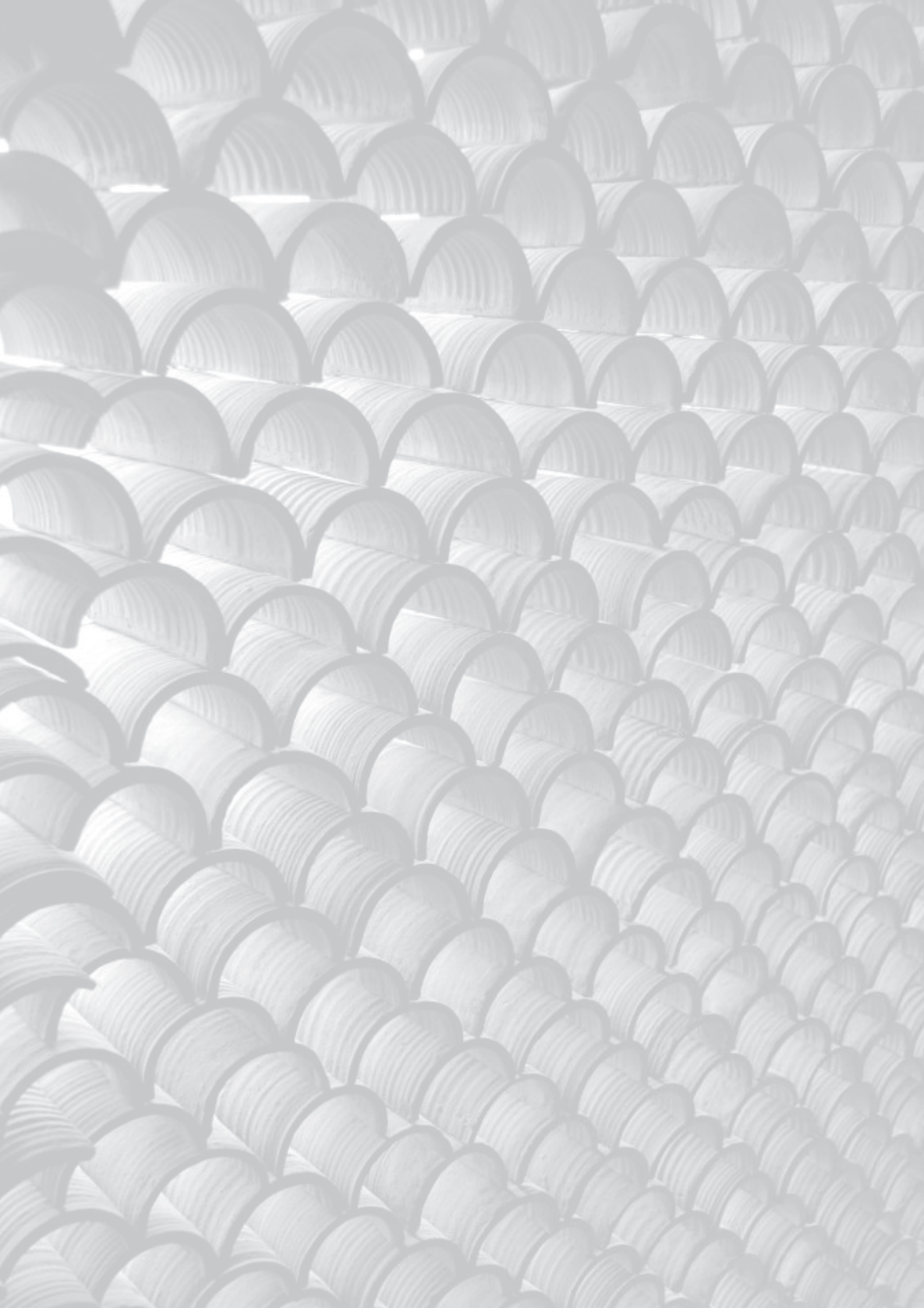
- धर्मेन्द्र पारे

होली, 25 मार्च 2013



## इस अंक में

- भोजपुरी भाषा और साहित्य : सर जार्ज ग्रियर्सन का अवदान / डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी / 7
- नर्मदाप्रसाद गुप्त : लोक इतिहास और संस्कृति के अध्येता / श्यामसुंदर दुबे / 12
- देवेन्द्र सत्यार्थी : लोकगीतों की जयगाथा / प्रकाश मनु / 20
- एक देदीप्यमान नक्षत्र : रायबहादुर हीरालाल / ओम मालवीय / 31
- लोक का वट-वृक्ष : कोमल कोठारी / विजय वर्मा / 37
- लोक के अध्येता : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय / डॉ. मुक्ता खन्ना / 40
- लोक अध्येता : कृष्णानन्द गुप्त / अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' / 45
- मालवी लोकसाहित्य के अध्येता / डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित / 53
- पं. रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में लोक / डॉ. संध्या द्विवेदी / 55
- लोकसाहित्य मार्तण्ड : डॉ. सत्येन्द्र / डॉ. बलजीत कुमार श्रीवास्तव / 61
- लोक साहित्य के अमृत कलश : पं. राम नारायण उपाध्याय / डॉ. पूरन सहगल / 66
- लोककलाओं के कमल-पुष्प : देवीलाल सामर / डॉ. महेन्द्र भानावत / 70
- नर्मदा-तट का साहित्य-साधक : बाबूलाल सेन / डॉ. श्रीराम परिहार / 73
- सेना नायक कवि : लालकवि गोरे लाल / सुधा तैलंग / 76
- लोक संस्कृति के संरक्षण में ओरछा राज्य / हरिविष्णु अवस्थी / 79
- निमाड़ी और बुन्देली बोलियों पर हंस-कर्म / प्रेमशंकर रघुवंशी / 83
- छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के अध्येता / उर्मिला शुक्ल / 87
- बघेली संस्कृति के अध्येता : गोमती प्रसाद विकल / आशा द्विवेदी / 90
- श्याम परमार : लोक की सौंधी सुगन्ध / डॉ. हंसा कमलेश / 94
- राधेश्याम शांडिल्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व / वसंत निरगुणे / 97
- मालवी लोकानुसंधान की परम्परा और डॉ. प्रह्लादचन्द्र जोशी / डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा / 101



## भोजपुरी भाषा और साहित्य : सर जार्ज ग्रियर्सन का अवदान

डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की बोलियों में जिस एक बोली का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा जिस पर प्रभूत मात्रा में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों का अध्ययन हुआ है, उस बोली का नाम भोजपुरी है। भोजपुरी पर प्रारंभिक दिनों में जो भी कार्य हुआ, वह सब पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा ही हुआ। इन विद्वानों में जे. बीम्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, विलियम कुक, क्राऊस, इरविन, ए.जी. शिरेफ आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी पाश्चात्य मनीषियों में जार्ज ग्रियर्सन का नाम शीर्ष पर है, जिन्होंने भोजपुरी भाषा और इसके लोकसाहित्य पर सर्वाधिक कार्य किया। यद्यपि भोजपुरी का वैज्ञानिक अध्ययन सर्वप्रथम जे.बीम्स ने ही प्रारम्भ किया था। इस सम्बन्ध में आपका नोट्स 'आन द भोजपुरी डायलेक्ट्स आफ हिन्दी स्पोकें इन वेस्टर्न बिहार' (पश्चिमी बिहार में बोली जाने वाली हिन्दी की बोली भोजपुरी पर टिप्पणी) शीर्षक निबंध 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका भाग 3, पृ. 483 से पृ. 508 में सन् 1868 में प्रकाशित हुआ था। यह निबंध 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के समक्ष 17 फरवरी 1969 ई. में पढ़ा गया था। बीम्स महोदय के बाद सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम ही विशेष उल्लेख के योग्य है, जिन्होंने भोजपुरी को केन्द्र में रखकर सर्वाधिक कार्य किया है। सर जार्ज ग्रियर्सन एक अंग्रेज सिविलियन थे। उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में बंगाल की सिविल सर्विस में नियुक्त होकर भारत आये थे। इनका जन्म डबलिन में 7 जनवरी 1851 में हुआ था। आपके पिता डबलिन के प्रसिद्ध वैरिस्टर थे। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरांत इन्होंने उच्च शिक्षा के लिये डबलिन के ट्रिनिटी कॉलेज से बी.ए. किया और उसके बाद की शिक्षा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से गणित

में आनर्स किया। यहीं पर मीर औलाद अली से हिन्दुस्तानी तथा प्रो. एटकिंसन से संस्कृत पढ़ी। सन् 1871 ई. में आई.सी. एस. की परीक्षा उत्तीर्ण कर भारत आये। नौकरी के प्रारम्भ से ही अपनी रुचि के अनुकूल अध्ययन का मुख्य विषय भारतीय कार्यभाषा रखा। आपने संस्कृत, प्राकृत के साथ हिन्दी, बांग्ला और बिहार की अन्य क्षेत्रीय बोलियों का अध्ययन किया। सन् 1880 ई. में इनका मैथिली व्याकरण प्रकाशित हुआ, जिसमें विद्यापति के गीतों का पहला संग्रह प्रकाशित हुआ। इनके भारत निवास का अधिकांश समय बिहार राज्य में व्यतीत हुआ। इन्होंने बहुत नजदीक से बिहार के निवासियों का रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार, अंधविश्वास, नामकरण की परम्परा आदि का अध्ययन अनुसंधान किया। इसी अध्ययन के परिणाम स्वरूप बहुत ही अध्यवसाय के साथ इन्होंने 'बिहार पीजेन्ट लाइफ' नामक पुस्तक लिखी, जो सन् 1885 ई. में प्रकाशित हुई। कालान्तर में 'बिहार की कृषक जीवन की शब्दावली' के नाम से इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ कृषक जीवन की शब्दावली का ऐसा कोश है, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न अंचलों पर और वहाँ की बोलियों पर कई शोध कार्य सम्पन्न हुये।

इसके पूर्व सन् 1883 ई. में 'सेवन ग्रामर्स ऑफ द डायलेक्ट्स एण्ड सब डायलेक्ट्स आफ द बिहारी लैंग्वेज' (आठ भाग) का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था, जो आगे जाकर सन् 1887 ई. में पूर्ण हुआ। डॉ. बीम्स ने इस कृति की समीक्षा की। देश-विदेश की पत्रिकाओं में ग्रियर्सन के इस प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। इसी समय के आस-पास भारत सरकार ने भारतीय भाषाओं की सर्वेक्षण की योजना बनायी, जिसके निर्देशक सर जार्ज ग्रियर्सन नियुक्त हुये। इनके नेतृत्व में यह कार्य सन् 1899 से 1922 तक चला। इसमें ही पहली बार भोजपुरी की स्वतंत्र सत्ता को स्थापित किया गया। भोजपुरी क्षेत्र के संदर्भ में डॉ. ग्रियर्सन ने भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण करते हुए भोजपुरी भाषी प्रदेश के बारे में लिखा था- 'भोजपुर परगने से आगे बहुत दूर तक बोली जाती है। उत्तर में यह गंगा को पार करके नेपाल की सीमा के ऊपर हिमालय की निचली पहाड़ियों तक चम्पारण जिले से लेकर बस्ती तक फैली हुई है। दक्षिण में सोन नदी पार करके यह छोटा नागपुर के विस्तृत राँची के पठार तक फैलती है।

मानभूम जिले के छोर पर यह बंगाली और सिंहभूम जिले के छोर पर उड़िया के संसर्ग में आती है। बिहार में मैथिली, मगही और भोजपुरी, इन तीनों बोलियों में भोजपुरी अति पश्चिमी बोली है। उस भू-भाग का जिसमें केवल भोजपुरी भाषा ही बोली जाती है, क्षेत्रफल निकालने पर पचास हजार वर्गमील होता है। इस भू-भाग के निवासियों की जनसंख्या जिनकी मातृभाषा भोजपुरी है, दो करोड़ है।<sup>2</sup>

यह भी ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन द्वारा 'लिंग्विस्तिक सर्वे ऑफ इंडिया' में दिये गये ये आँकड़े सन् 1901 के हैं। सन् 1901 की जनगणना के आधार पर ये आँकड़े लिये गये थे। सन् 2011 की जनगणना के आधार पर भोजपुरी भाषियों की संख्या 15 करोड़ से भी ऊपर हो गई थी। इसकी सीमा प्रान्तों की राजनीतिक सीमा से एकदम पृथक है। डॉ. ग्रियर्सन ने भोजपुरी क्षेत्र के संदर्भ में जो विवरण दिये हैं, आज भी सही और संगत लगते हैं। इस समय मारिशस, फिजी, सुरीनाम, ट्रिनीडाड और ब्रिटिश गुयाना जैसे देशों में भोजपुरी भाषा भाषियों की संख्या पर्याप्त है, जहाँ कभी पूर्वी उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बिहार के लोग गिरमिटिया मजदूर के रूप में गये थे। जिन्होंने भयंकर अत्याचार सहते हुए भी अपनी भोजपुरी भाषा तथा संस्कृति को जीवित रखा। भारतवर्ष के जिन तीन प्रांतों में भोजपुरी बोली जाती है, उनका विवरण इस प्रकार है-

**उत्तरप्रदेश-** बलिया, गाजीपुर, वाराणसी, चंदौली, संत रविदास नगर (भदौही), सोनभद्र, मिर्जापुर, जौनपुर, गोरखपुर, संत कबीर नगर, सिद्धार्थ नगर, महाराजगंज, कुशीनगर, देवरिया, बस्ती, मऊनाथ भंजन तथा आजमगढ़।

**बिहार-** बक्सर, भोजपुर, ममुआ, रोहतास, सारन, सीवान, गोपालगंज, पूर्वी चम्पारन, पश्चिमी चम्पारन, आरा, पलामू, राँची और महाराजगंज।

**छत्तीसगढ़** - बिलासपुर और सरगुजा।

भोजपुरियों के स्वभाव की चर्चा करते हुए डॉ. ग्रियर्सन ने लिखा है- 'भोजपुरी उस शक्तिशाली, स्फूर्तिपूर्ण और उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है, जो परिस्थिति और समय के अनुकूल अपने को बनाने के लिये सदा प्रस्तुत रहती है और



जिसका प्रभाव हिन्दुतान के हर भाग पर पड़ा है। हिन्दुस्तान में सभ्यता फैलाने का श्रेय बंगालियों और भोजपुरी को ही प्राप्त है। इस काम में बंगालियों ने अपनी कलम से काम लिया और भोजपुरी ने अपनी बोली से।<sup>3</sup>

जार्ज ग्रियर्सन ने भोजपुरी को चार भागों में विभक्त किया है- उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा नगपुरिया। उत्तरी भोजपुरी घाघरा नदी के उत्तर में बोली जाती है। इसकी भी दो विभाषायें हैं- सरवरिया, गोरखपुरी।<sup>4</sup> डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार दक्षिणी भोजपुरी ही आदर्श भोजपुरी है, इसका क्षेत्र शाहाबाद, सारन, बलिया, पूर्वी देवरिया तथा पूर्वी गाजीपुर है। पश्चिमी गाजीपुर, आजमगढ़, बनारस, मिर्जापुर तथा जौनपुर के कुछ भागों में पश्चिमी भोजपुरी बोली जाती है।<sup>5</sup> सरवरिया भोजपुरी का क्षेत्र बस्ती तथा पश्चिमी गोरखपुर है। इसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख ग्रियर्सन महोदय ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' के भाग 5 पृ. 295-239 में किया है।

डॉ. ग्रियर्सन की भूमिका भाषाशास्त्र के अतिरिक्त लोकसाहित्य और विशेष रूप से भोजपुरी लोकसाहित्य के क्षेत्र में अत्यंत ही सराहनीय है। जिन दिनों बहुत से विद्वान भोजपुरी भाषा का नाम भी नहीं जानते थे और इसके लोकसाहित्य को उपेक्षा भरी दृष्टि से देखते थे, उस समय आज से लगभग डेढ़ सौ पूर्व डॉ. ग्रियर्सन ने भोजपुरी के लोकगीतों का संकलन तथा सुसम्पादन कर प्रकाशन किया। इस प्रकार भोजपुरी लोकगीतों को सर्वप्रथम संग्रहीत करने का श्रेय इसी स्वनामधन्य मनीषी को प्राप्त है। इन्होंने भोजपुरी लोकसाहित्य पर अनेक विद्वतापूर्ण लेखों को लिखकर तथा उन्हें अंग्रेजी में अनूदित कर विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया और इसके महत्त्व का सम्यक रीति से प्रतिपादन किया है।<sup>6</sup>

डॉ. ग्रियर्सन ने रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में कुछ बिहारी लोकगीतों का संग्रह प्रकाशित किया है।<sup>7</sup> ये गीत बिहारी राज्य के आरा और पटना जिलों से संग्रहीत हैं। अतः पूर्णतया ये भोजपुरी के ही गीत हैं, इनमें से कुछ गीतों में मगही का पुट भी है, परन्तु इनकी आत्मा भोजपुरी ही है। ग्रियर्सन महोदय ने इस लेख के प्रारम्भ में बिहार की तीन प्रधान बोलियों - मगही, मैथिली और भोजपुरी का संक्षेप में परिचय भी दिया है।

इसके पश्चात् सोहर, जैतसार, झूमर आदि के गीत दिये हैं। इन गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद भी दिया गया है।

डॉ. ग्रियर्सन का दूसरा लेख इसी पत्रिका में 'भोजपुरी लोकगीत' के नाम से प्रकाशित हुआ है। लेख को प्रारम्भिक आठ पृष्ठों में लेखक ने भोजपुरी भाषा की विशेषता, उसका साहित्य तथा संग्रहीत गीतों के छंद आदि विषय पर सुंदर प्रकाश डाला है। इस लेख में कुल मिलाकर 49 गीतों का संग्रह किया गया है, जिसमें विरहों की ही संख्या 42 है। इसके बाद घोटा या चैता और जैतसार के भी गीत हैं। भोजपुरी साहित्य का इतिहास के लेखक कृष्णदेव उपाध्याय ने ग्रियर्सन के इस संपादित ग्रंथों के गीतों को भोजपुरी लोकगीत के संग्रह का प्रथम प्रयास माना है? ग्रियर्सन के द्वारा रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में लिखे गये इस लेख में गीतों का अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। लेकिन इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी टिप्पणियाँ हैं। डॉ. ग्रियर्सन ने गीतों में आये हुये प्रत्येक शब्द, उस शब्द उत्पत्ति की उसका नानाविध अर्थ, राय निर्माण और गीतों के प्रसंग को लिखकर इस लेख के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है, स्थान-स्थान पर भौगोलिक तथा ऐतिहासिक टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे गीतों को समझने में बड़ी सहायता होती है।

डॉ. ग्रियर्सन ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में 'विजयमल के गीत' को प्रकाशित किया है। लेख के प्रारम्भ में विजयमल की संक्षिप्त कथा और इसके संग्रह-क्षेत्र का भी उल्लेख है। यह गीत बिहार के शाहाबाद जिले से संग्रहीत किया गया है, जब ग्रियर्सन साहब यहाँ के कलेक्टर होकर आये थे। विजयमल भोजपुरी भाषा का महाकाव्य है, जो 1138 पंक्तियों में समाप्त हुआ है। विद्वान ग्रियर्सन साहब ने इस समस्त गीत का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है और स्थान-स्थान पर पाद टिप्पणियाँ भी दी हैं। इस पत्रिका के एक दूसरे अंक में ग्रियर्सन ने 'राजा गोपीचंद के गीत के दो विभिन्न पाठों को संग्रहित किया है।<sup>8</sup> राजा गोपीचंद की कथा बड़ी प्रसिद्ध है और इसका प्रचार भोजपुरी प्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्यों में भी है। डॉ. ग्रियर्सन ने बिहार राज्य के मगध प्रदेश तथा भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित इस गीत के विभिन्न पाठों को एक स्थान पर संग्रह किया है तथा इन पाठों के कथानक में जो अंतर है, उसे भी बतलाया है। गोपीचंद के गीत की तुलनात्मक समीक्षा करने वाले विद्वानों के लिये यह लेख उपयोगी

ही नहीं अत्यंत आवश्यक भी है। गीत के अंत में उसका अंग्रेजी अनुवाद और पाद टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

इसी पत्रिका के एक अन्य अंक में डॉ. गिर्यसन ने 'मानिक चंद का गीत' शीर्षक एक लेख लिखा है। यह लेख बड़ा विस्तृत है तथा 194 पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मानिकचंद की कथा बांग्ला भाषा में है, जो नागरी अक्षरों में छपी गई है। गोपीचंद से सम्बद्ध होने के कारण इस लेख का बड़ा ही महत्त्व है। इस लेख का अंग्रेजी अनुवाद और पाद टिप्पणियाँ भी दी गई हैं।

डॉ. ग्रियर्सन ने 'इंडियन एण्टिक्वेरी' नामक बम्बई से प्रकाशित होने वाली शोध संबंधी प्रसिद्ध पत्रिका में 'आल्हा के विवाह के गीत' को प्रकाशित किया है।<sup>12</sup> भोजपुरी क्षेत्र में आल्हा के गीत बहुत ही रूचि से गाये और सुने जाते हैं। ग्रियर्सन साहब ने ऐसे लोकप्रिय गीतों को संग्रहीत करके प्रकाश में लाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। यह गीत संग्रह भी भोजपुरी का एक प्रकार का महाकाव्य ही है। ग्रियर्सन साहब ने लेख के प्रारम्भ में 'आल्हा के गीत' के विभिन्न पाठों का उल्लेख किया है और आल्हा की ऐतिहासिकता पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला है। इसी पत्रिका के एक अन्य स्थान पर लेखक ने 'आल्हा खंड' का पूर्ण कथानक संक्षेप में उपस्थित किया है, जिससे आल्हा के पूरे जीवन-चरित को जानने में बड़ी सहायता मिलती है। यह पूरा कथानक अंग्रेजी पद में अनूदित है।

लंदन के 'स्कूल ऑफ ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' (प्राच्य विद्या परिषद्) की पत्रिका में डॉक्टर ग्रियर्सन ने 'उत्तरी भारत का लोकसाहित्य' नामक एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें भोजपुरी भाषा के भी अनेक गीत सम्मिलित हैं।<sup>13</sup> इस लेख में ग्रियर्सन साहब ने उत्तरी भारत में प्रचलित तुलसीदास का रामचरित मानस, बिहारी की सतसई, सूरदास के पद और विद्यापति की पदावली से उदाहरण देते हुए आल्हा के सुप्रसिद्ध गीत का कुछ अंश उद्धृत किया है। साथ ही भगवती देवी की प्रसिद्ध लोकगाथा और वस्ती सिंह के गीत का संग्रह किया गया है।

डॉक्टर ग्रियर्सन ने जर्मन भाषा की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका में 'शोभानयकवा बनजारा' नामक एक लेख लिखा है। इस लेख में वायका नामक किसी बनजारा या सौदागर के गीत का संग्रह किया है, जो 629 पंक्तियों में है। यह गीत बहुत बड़ा है तथा यह

भी एक भोजपुरी महाकाव्य है। यह गीत शाहाबाद जिले से संग्रहीत है। लेखक ने प्रारम्भ में सोलह पृष्ठों में इसी गीत के आधार पर भोजपुरी भाषा का व्याकरण भी किया है, जो भोजपुरी ध्वनियों पर कार्य करने वाले अनुसंधान कर्त्ताओं के लिये बहुत उपयोगी है। इस गीत में व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। गीत में आये हुये कठिन शब्दों का अर्थ भी अंग्रेजी में दिया गया है। स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ भी हैं। भोजपुरी भाषा तथा लोकगीत पर कार्य करने वाले विद्वानों के लिये यह लेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

सन् 1886 ई. में वियना में प्राच्य विद्या अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। डॉ. ग्रियर्सन भारत के प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मलेन में सम्मिलित हुये। इस अवसर पर डॉ. ग्रियर्सन ने 'हिन्दुतान का मध्यकालीन साहित्य' विशेष रूप से तुलसीदास शीर्षक सारगर्भित निबंध पढ़ा, जिसमें पहली बार तुलसीदास विश्वमंच पर स्थापित हुये। जिस समय डाक्टर ग्रियर्सन गया जिले के कलेक्टर थे, उन दिनों उन्होंने अपना एक ऐतिहासिक लेख 'नोट्स आन द डिस्ट्रिक्ट ऑफ गया' लिखा, जिसमें गया के इतिहास के साथ-साथ यहाँ की आबादी, प्रकृति, नदी-पर्वत, निवासी आदि पर प्रभूत मात्रा में प्रकाश डाला है। एक प्रकार से उनका यह कार्य गया जिला का गजेटियर ही हो गया है। यहीं पर रहते हुए आपने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ओरियन्टल रिसर्च' का कार्य प्रारम्भ किया। हावड़ा में रहते हुये आपने बिहारी सतसई, पद्मावत, भाषाभूषण तथा रामचरित मानस का संपादन किया। रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ने उनकी टिप्पणियों को 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' के नाम से सन् 1889 ई. में प्रकाशित किया।

हिन्दी साहित्य में डाक्टर ग्रियर्सन की निम्नलिखित कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं-

वैठराब गीत संग्रह (1884), तुलसी (1903), भक्तमाल की झाँकी, आल्हा विवाह के गीत, विद्यापति ठाकुर (1905), बिहारी सतसई और लाल चंडिका (1905)।

सर जार्ज ग्रियर्सन की बहुआयामी प्रतिभा तथा सेवाओं के फलस्वरूप भारत वर्ष की ब्रिटिश सरकार ने सन् 1885 ई. में सी.आई.ई. की उपाधि प्रदान की। इन्हें सन् 1894 ई. में पी-

एच.डी., 1902 ई. में डी.लिट् तथा 1920 में एल.एल. डी. की उपाधि प्रदान की गई। एक नवम्बर 1899 में ग्रियर्सन इंग्लैंड गये। दो वर्ष बाद 1903 ई. में इन्होंने त्याग पत्र दे दिया। 8 मार्च 1941 ई. को इस अप्रतिम प्रतिभा के धनी जुझारू व्यक्तित्व वाले मनीषी की देहलीला समाप्त हो गयी। ये मृत्यु पर्यन्त निरंतर भारत की सेवा करते रहे। डॉ. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन एक उच्चकोटि के

भाषा वैज्ञानिक एवं इतिहासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' (भारत की भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण) भाषा, साहित्य और इतिहास के लिये एक मानक संदर्भ ग्रंथ है। तीस वर्षों तक इनकी भारत देश तथा यहाँ की भाषा की सेवा के लिये भारत का जनमानस सदा उनका ऋणी रहेगा।

---

### संदर्भ

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य -डॉ. उदयनारायण तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना पृ. 262
2. भोजपुरी वैभव से -डॉ. अग्वेश नीरन, डॉ. चितरंजन मिश्र, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद पृ. 8
3. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया- पृ. 178, 193
4. भोजपुरी भाषा और साहित्य - डॉ. उदय नारायण तिवारी, पृ. 239
5. भोजपुरी साहित्य का इतिहास- डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान, दुर्गापुर, वाराणसी पृ. 114-115
6. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाईटी- खण्ड 16 (1884) पृ. 196, 1886, खण्ड 15 पृ. 207
7. भोजपुरी साहित्य का इतिहास -पृ. 115
8. जे. ए. एस. वी. भाग 54 (1885) खण्ड 1 पृ. 94 -द वरसन्स आफ दी सांग ऑफ गोपीचंद
9. वही भाग 23 (1878) खण्ड 1 पृ. 3
10. इंडियन एंथोवेटी भाग 14 (1885) पृ. 209 'दि सांग आफ आल्हाज मैरेज'
11. बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरियन्टल एण्ड अफ्रीका स्टडीज, लंदन भाग 1 खण्ड 3 (1920) पृ. 82

## नर्मदाप्रसाद गुप्त : लोक इतिहास और संस्कृति के अध्येता

श्यामसुंदर दुबे

लोक-संस्कृति की सैद्धान्तिक अवधारणाओं के साथ लोक-संस्कृति की साक्ष्यपरक इतिहास चेतना के शोधात्मक निरूपण में प्रवृत्त प्रतिभाओं का हिन्दी क्षेत्र में अभाव है। अभी तक जो लोक-संस्कृति का कार्य हुआ है, वह लगभग तीन दिशाओं वाला रहा है। लोक-संस्कृति से सम्बंधित लोक-जीवन के अनुषंगों का संकलन, संकलन के आधार पर उसका सांस्कृतिक और सामाजिक विश्लेषण और लोक-संस्कृति के पाश्चात्य सिद्धांतों का निरूपण। इन दिशाओं में नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र की अलग-अलग प्रतिभाएँ ही क्रियाशील हैं और इस आधार पर इनमें अंतर्नुशंसनीय अंतःक्रियाओं का अभाव है। इसलिए लोक-संस्कृति पर समग्र दृष्टिपात के अभाव में उसकी सैद्धान्तिक व्याख्या और उसके व्यवहारों से निष्पन्न विकसित चेतना के आधार पर इतिहास की मूलगामिनी शक्ति का अन्वेषण अभी तक अधूरा रहा है। लेकिन इधर इस तरह के अध्ययन- अनुशीलन के प्रति रुझान बढ़ा है और हिन्दी लोक-संस्कृति में कार्यरत कुछ प्रतिभाओं ने अपने कृतित्व का विस्तार करते हुए उसे लोक-संस्कृति के समस्त पार्श्वों से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

इस तरह की प्रतिभाओं में डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। डॉ. गुप्त ने यद्यपि बुंदेली लोक-साहित्य को मूलतः अपने कृतित्व का प्रस्थान-बिन्दु बनाया, किन्तु वे अपने कृतित्व का निरंतर विस्तार करते गए और बुन्देली लोक-संस्कृति के वे एक मात्र ऐसे अध्येता बन गए, जिन्होंने लोक-संस्कृति के सैद्धान्तिक निष्कर्ष दिए हैं। इतिहास की अछूती, किन्तु अन्तर्वर्ती लोक-धारा के रूप में उनकी निष्कर्ष-निष्पत्तियाँ उन्हें लोक-संस्कृति के बहुआयामी अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। वे बुन्देली लोक-संस्कृति

के माध्यम से, एक तरह से इस देश की आत्मा की ही तलाश करते हैं। अतः उनका अध्ययन बुन्देलखण्ड की सीमाओं से घिरा न होकर लोक-संस्कृति के अंचल-निरपेक्ष स्वरूप को उद्घाटित करता है।

उनके इस दिशा में किए गए महत् कार्य का साक्ष्य है, उनकी बहुचर्चित कृति 'बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का इतिहास।' इस कृति के अलावा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में एतद् विषयक आलेख भी उनकी इस श्रम-साधना को उजागर करते हैं। लोक-संस्कृति की सैद्धान्तिक व्याख्या का अधिकांश स्रोत पाश्चात्य धारणाएँ ही रही हैं। ये धारणाएँ भी समाजशास्त्र और नृतत्वशास्त्र के विद्वानों द्वारा प्रतिपादित थीं। हिन्दी में जो लोक-संस्कृति और लोक साहित्य पर शोध कार्य सम्पन्न हुए हैं, उनमें प्रायः इन पाश्चात्य धारणाओं से परिचालित प्रत्यय का ही समावेश हुआ है। डॉ. सत्येन्द्र जैसे विद्वानों द्वारा लोक-संस्कृति के अपने आधार तलाशने में जो अपूर्णत्व रह गया है, वह इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों के प्रभाव क्षेत्र में आने के कारण है। अतः इनके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष भी समुचित दिशा निर्देशक नहीं बन सके हैं और फलान्विति में लोक-संस्कृति की गत्वरता का अभाव रह गया है। डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त ने लोकत्व के संदर्भ में ऐसी धारणाओं से असहमति प्रदर्शित करते हुए अपने सिद्धान्त की परिपुष्टि में समकालीन धारणाओं को भी रेखांकित किया है। वे लिखते हैं- 'लोक की सही समीक्षा के लिए लोकत्व का सही ज्ञान जरूरी है। लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य और लोक-कला में निहित लोकत्व ही उनको लोकमय बनाता है।'

डॉ. सत्येन्द्र ने लोकत्व को लोक-मानसी स्थिति माना है। लोक-मानस को परिभाषित करते हुए उन्होंने उसे वह मानसिक स्थिति कहा है, जो आदिम मानव की परम्परा में है और उसी का अवशेष है। गुप्तजी ने लिखा है कि 'आदिम मानव की परम्परा में या उसके थोड़े अवशेष के रूप में लोक-मानस को स्वीकार करने में संभवतः किसी को संकोच न हो, परन्तु उसे मात्र प्राकृतिक आदिम रूढ़ मूल मानस मानना आपत्तिजनक है। किसी परम्परा में अथवा किसी के कुछ अवशिष्ट अंश निहित होना एक अलग बात है और केवल आदिम रूढ़ मानस होना दूसरी। अधिक विस्तार में न जाकर यह कहना उचित है कि लोक की आदिम मानव प्रवृत्ति को आदिम मानस का पर्याय नहीं माना जा सकता।

लोक से तात्पर्य उस लोक मानस या लोक प्रवृत्ति से है जो सहज और प्रकृत मानसिक वृत्तियों की पूँजीभूत इकाई का रूप होता है।'

डॉ. गुप्त ने लोक-दर्शन, लोक-धर्म और लोक-मूल्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या के मौलिक प्रतिदर्श स्थापित किए हैं। लोक-संस्कृति के ये तीनों आधार स्तम्भ हैं। इनके माध्यम से ही लोक-संस्कृति ग्रहण और त्याग के मध्य विकसित होती है। लोक-संस्कृति के ये आधार अपने समन्वय के कारण ही अपनी व्याप्ति को विस्तार देते हैं। इसी तरह वे लोक-व्यवहार के पक्ष में लोक-धारणा को महत्त्व देते हैं और इन्हें गत्वर मानते हैं। इनकी गत्वरता ही लोक-संस्कृति के सिद्धान्तों और स्वरूप को युगीन आवश्यकता के अनुरूप बदलती रहती है। डॉ. गुप्त ने इस आधार पर लोक-पुरुष का जो रूपक प्रस्तुत किया है, वह लोक-संस्कृति की समग्र अवधारणाओं को प्रस्तुत करता है। वे लिखते हैं- 'यदि लोक का मस्तिक लोकदर्शन है, लोक मूल्य उसकी बुद्धि, लोक धर्म उसकी आत्मा है तो लोक विश्वास उसके आस्था तन्तु, लोकाचार उसकी भुजाएँ हैं तो लोकगीत और लोकावर्तन उसके चरण। इस रूपक के माध्यम से डॉ. गुप्त की सिद्धांत निरूपणवृत्ति की सूत्रात्मकता, संक्षिप्तता, संप्रेषणीयता और ग्राह्यता का सहज ही अनुमान लग जाता है।

एक सैद्धान्तिक व्याख्याकार को जिस तरह अपनी मान्यताओं और स्थापनाओं को रूपायित करने के लिए अपनी कल्पनादृष्टि का परिचय देना चाहिए, वैसी दृष्टि डॉ. गुप्त के पास है, जो उन्हें कोरा, बौद्धिक व्याख्याकार नहीं रहने देती। वे सृजनात्मक चेतना सम्पन्न व्याख्याकार बन जाते हैं, जो एक व्याख्याकार के लिए आवश्यक गुण है। अपनी इसी सृजनशील समीक्षादृष्टि के कारण उन्होंने लोक को समझने में नए आलोक को उद्भाषित किया है। वे इसी आधार पर डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय और डॉ. श्रीराम शर्मा की लोक विषयक परिभाषाओं पर अपनी असहमति जताते हुए कहते हैं कि लोक को अशिक्षित, असभ्य, गँवार, आदिम आदि विशेषणों से सम्बोधित करना उचित नहीं है। शास्त्रों से बँधे शास्त्री अधिक रूढ़िग्रस्त होते हैं, जबकि लोकत्व से सम्प्रेरित लोक सहज स्वच्छंद, प्रकृत और ताजे रहते हैं।

डॉ. गुप्त ने लोक के संदर्भ में अनेक मौलिक निष्पत्तियाँ

प्रस्तुत की हैं, जैसे लोक संस्कृति, विदेशी संस्कृति तथा युगबोध में अंतःक्रिया के परिणाम ही लोक की विकासशील चेतना के आधार हैं। लोक को राष्ट्रीय संस्कृति की मूलगामिनी शक्ति के रूप में देखना और परखना, लोक कलाएँ विशेष रूप से लोकगीत समूह का सृजन नहीं हैं, वे व्यक्ति का ही सृजन हैं। लोक संस्कृति के सामाजिक एवं आर्थिक स्वरूप की विवेचना के आधार पर लोकोत्सव, पर्वों, त्योहारों का विश्लेषण आदि डॉ. गुप्त ने पूर्णतः वैज्ञानिक आधारों पर किया है। सैद्धांतिक दृष्टि से डॉ. गुप्त ने लोक-संस्कृति को आधार बनाकर ही किसी विशेष अंचल और क्षेत्र को एक इकाई माना है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के निर्धारण में उन्होंने बुन्देली लोक-संस्कृति सीमाओं के आधार पर बुन्देलखण्ड की परिसीमाएँ निर्धारित की हैं। यह सीमांकन निश्चित ही सांस्कृतिक सम्पन्नता के सम्पूर्ण विकास का आधार बन सकता है। इसे लेखक ने समशीला इकाई का नाम दिया है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने इतिहास विषयक दृष्टिकोण को लोक संस्कृति से जोड़कर इतिहास के क्षेत्र में एक महत् कार्य किया है। यद्यपि लोक संस्कृति की इतिहास चेतना को आधार बनाने की जरूरत बहुत पहले से अनुभव की जाने लगी थी। कर्नल टाड ने वस्तु-संग्रहण के आधार पर राजस्थान के इतिहास को समझने की चेष्टा की थी, किन्तु ये पूरी तरह इतिहास चेतना के मूल में सम्पूर्ण लोक को न तो तलाश पाए थे और न ही उनकी ऐतिहासिक अवधारणाओं का सही इस्तेमाल ही कर पाए थे। मैं यहाँ कर्नल टाड के कार्य को गैरमहत्त्वपूर्ण नहीं मान रहा हूँ। उन्होंने खूब परिश्रम किया और एक तरह से लोक की समग्रता को इतिहास चेतना के लिए प्रयुक्त करने की आधार भित्तिका निर्मित की है। डॉ. गुप्त ने लोक संस्कृति को इतिहास की प्रामाणिकता से जोड़ा और लोक संस्कृति की महत्ता को प्रतिपादित किया। वस्तुतः लोक संस्कृति ही इतिहास की परिवर्तनशीलता में कारगर भूमिका का निर्वाह करती है।

हमारा जो इतिहास लिखा गया, वह अंग्रेजों की अवधारणाओं पर ही अवलम्बित रहा है। इतिहास के प्रति अंग्रेजों का दृष्टिकोण भी उपनिवेशवादी था। अतः हमारी इतिहास विषयक जानकारी उपरंगी और दिग्भ्रमित करने वाली ही अधिक है। इतिहास का विकास जिन आंतरिक सच्चाईयों से शक्ति पाता है, उन आंतरिक सच्चाईयों से हमारा इतिहासकार रूबरू नहीं हो पाता है। दरअसल,

लोक-संस्कृति के माध्यम से इतिहास-विकास की सच्चाईयों को पकड़ा जा सकता है। वस्तुतः यह इतिहास में सामान्यजन की भागीदारी की तलाश है, जो इतिहास को नई व सार्थक दिशा देने वाली है। कम-से-कम भारतीय इतिहास को यदि उसके असली रूप में देखना है तो लोक-संस्कृति से उद्भूत इतिहास-साक्ष्यों और इतिहास-सत्यों को नजरअन्दाज नहीं किया सकता है। लोक-संस्कृति का इतिहास हमारी इतिहास संबंधी दृष्टि को न केवल विकसित करता है, अपितु इतिहास के भीतर निहित द्वन्द्वात्मक शक्तियों की सही पड़ताल करने में सहायक सिद्ध होता है।

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त ने बुन्देली लोक-संस्कृति के इतिहास पर जो महत्त्वपूर्ण काम किया है, वह इसी ओर संकेत करता है। वे स्वयं भी मानते हैं- 'लोक-संस्कृति का इतिहास-लेखन असम्भव समझा गया है, इसलिए उसकी चर्चा करना तक उपयुक्त नहीं माना गया। वस्तुतः लोक-संस्कृति में निहित लोक मूल्यों, लोकाचरण, लोक जीवन, लोक साहित्य और लोक कलाओं जैसे अंगों-उपांगों में व्यक्ति भागीदार होता है, तो उसका परिचय नहीं प्राप्त होता। इस वजह से तिथिवार इतिहास खोजना तो कठिन है, पर कालखण्डों या युगों के अनुसार लोक-संस्कृति के विकास की नापजोख की जा सकती है। लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगीत, लोक गाथाओं आदि और लोक कलाओं में परिभाषित लोक चित्र, लोक मूर्तियाँ, लोक संगीत आदि लोक संस्कृति के प्रामाणिक अभिलेख हैं, जिनका काल-निर्धारण मोटे तौर पर कालखण्ड में किया जा सकता है और उसी आधार पर लोक-संस्कृति का इतिहास क्रमबद्ध रूप में लिखा जा सकता है। अगर सच कहा जाए तो किसी युग की लोक-संस्कृति या लोक चेतना और लोकाचरण का इतिहास ही सच्चा इतिहास है, वह देश की बहुसंख्य जनता का इतिहास होने के कारण देश का सही इतिहास भी है।'

इन्हें ही प्रामाणिक एवं पक्षपातरहित माना है। अब्वल तो इतिहासकार लोक-साक्ष्यों को महत्त्व नहीं देते और यदि देते भी हैं, तो उनका अपने पक्ष में अर्थ निकाल लेते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि इतिहासकार के पास लोक-संस्कृति को समझने की भी गहन दृष्टि होनी चाहिए, इसके अभाव में उसे लोक-साक्ष्यों की मनगढ़ंत प्रसंगोद्भावनाएँ ही अभिप्रेत होंगी। डॉ. गुप्त ने लोक साक्ष्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्हें इतिहास के भ्रमात्मक प्रसंगों को निबेरने में सहयोगी बताया है।

उन्होंने लोक-साक्ष्यों को एक प्रजातान्त्रिक इतिहास की रचना में महत्वपूर्ण अंग की तरह स्वीकार किया है। वे स्पष्ट करते हैं कि सत्ता के द्वारा या सत्ता के दबाव में निर्मित साक्ष्य कितना सत्य है। यह खोज इतिहासकार का विषय है, लेकिन तत्कालीन लोक साक्ष्य उसकी सहायता का संकेत हैं और इतिहास की कई भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। लोक साक्ष्यों के गलत संदर्भ स्वीकार कर लेने के कारण इतिहास में अनेक विचलन और भ्रान्तियाँ भी निर्मित हो जाती हैं।

इस प्रसंग में एक उदाहरण डॉ. गुप्त ने प्रस्तुत किया है— बुन्देलखण्ड में महोबा के मनियाँदेव को प्रसिद्ध इतिहासकार बी.ए. स्मिथ ने मनियाँ देवी माना है और इसके आधार पर चन्देलों की उत्पत्ति आदिवासी गोण्ड से सिद्ध कर दी जाती है। उसने उन्हें हिन्दुआइज्ड गोण्ड कहा है, लेकिन लोकमुख और लोक गाथा में मनियाँदेव को मनियाँदेवी कभी नहीं माना गया। दूसरे मनियाँदेव के बारे में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वे मणिवाले देवता हैं। ये मणि वाले यक्ष ही बाद में मणिभद्र यक्ष कहलाए। बुन्देलखण्ड में मणिभद्र यक्ष की पूजा होती है। डॉ. गुप्त ने अपने इस निष्कर्ष के लिए पुष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। वे लिखते हैं कि बुन्देलखण्ड में मणिभद्र यक्ष की पूजा के भी लोक-साक्ष्य मिलते हैं। चन्देल-नरेश परमर्दिदेव के मंत्री और नाटककार वत्सराज के 'कर्पूरचरित भाग' में उनकी पूजा को प्रमुख उत्सव के रूप में वर्णित किया है। नागकाल की यक्ष मूर्तियाँ भरहुत स्तूप और पवायाँ या पद्मावती में मिलती हैं। इस तरह यक्ष पूजा की परम्परा यहाँ ईसा पूर्व पहली शती में प्रचलित रही है। इन सभी साक्ष्यों के आधार पर डॉ. गुप्त ने मनियाँदेव के संदर्भ में एकदम सही और सटीक दृष्टिकोण व्यक्त किया है तथा एक मान्यता का खण्डन भी किया है।

विद्वान लेखक ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी इस क्षेत्र की लोक परम्पराओं के आधार पर कहीं-कहीं एकदम नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। जैसे हिन्दी के रीतिकाल को ही वे अखाड़ा परम्परा से जन्मी परम्परा के रूप में ग्रहण करते हैं। उन्होंने माना है कि महाकवि केशव ने 'कवि प्रिया' की रचना अखाड़े के लिए की थी। केशव अखाड़े के गुरु थे और उन्होंने अखाड़े को काव्य-शिक्षा प्रदान करना अपना दायित्व माना। इसी आधार पर वे निष्कर्ष देते हैं— 'अतएव बुन्देलखण्ड में रीति

काव्य का विकास मुगल शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न शांति और समृद्धि तथा अन्य सुफलों से नहीं हुआ, वरन् उसके प्रस्फुटन के कारण दूसरे ही थे, यह तो स्पष्ट ही है कि केशव की प्रेरणा का प्रमुख स्रोत अखाड़ा था। अतएव बुन्देलखण्ड में रीति-काव्य का उद्भव, विकास और उत्कर्ष इन्हीं अखाड़ों से हुआ था। इस आधार पर रीतिकाव्य के उत्स पर पुनर्विचार अपेक्षित है और मेरी मान्यता है कि ये अखाड़े ही उसके विकास के जिम्मेदार थे।'

डॉ. गुप्त की इतिहास दृष्टि बहुत व्यापक है। उन्होंने लोक के इतिहास दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया, अपितु इसके सैद्धान्तिक आधारों को भी तलाशा है। सिद्धांतों के रूपायन हेतु उन्होंने लोक-संस्कृति के अनेक घटकों का न केवल अध्ययन-अनुशीलन और संग्रहण किया, बल्कि इनके समज्जित सुधी निष्कर्ष से लोक की इतिहास-चेतना को अभिव्यक्त किया। लोक मूल्य, लोक विश्वास, लोकधर्म, वार्ता, लोकोत्सव, लोक साहित्य आदि के आधार पर लोक की जातीय स्मृतियों (रेसियल कान्ससनेश) के भीतर निहित एक अनकहे इतिहास को उन्होंने उजागर किया है। डॉ. गुप्त का इतिहास विषयक एक और अवदान यह रहा है कि उन्होंने लोक-संस्कृति की विलुप्तप्राय अनेक परम्पराओं को महत् गवेषणा के साथ उनके सांगोपांग रूप में प्रस्तुत किया है, चाहे वह आल्हा की गायकी परम्परा हो, चाहे फाग परम्परा हो, चाहे लोक-नृत्य की परम्परा हो। वैसे तो इस दृष्टि से अनेक विश्वविद्यालयों में शोध कार्य सम्पन्न होते रहे हैं, इन शोध कार्यों की पिष्टपेषण प्रवृत्ति और इनकी जड़ता ने इस तरह के शोध कार्यों का महत्त्व कम कर दिया है। निश्चित ही डॉ. गुप्त ने इन शोध कार्यों की महत्ता अपने अथक श्रम के द्वारा स्थापित की है।

राष्ट्र की समग्र संस्कृति को समझने के लिए लोक-संस्कृति आँख की पुतली में निहित तिल का कार्य करती है। इतिहास विषयक चिंतन तभी समग्र बनता है, जब उसमें सांस्कृतिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी सम्मिलित कर लिया जाए। एक तरह से यह जरूरी है कि इतिहास सांस्कृतिक और सामाजिक विकास को स्पष्ट करे, वह अपने वर्ण्य काल की समूह मानसिकता को भी उद्घाटित करे। इस तरह से यदि इतिहास की धारणा को व्याख्यायित किया जाए, तो शायद हम इतिहास चक्र के भीतर गति को प्रकट करने वाली चलित ऊर्जा

का भी अनुमान लगा पाएँगे। डॉ. गुप्त ने लोक-संस्कृति के इतिहास के माध्यम से इतिहास को फैलाव दिया है और उसके विस्तार के आतंक भी प्रकट किए हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने इतिहास विषयक चिंतन को निरपेक्ष और लोकवादी रहने दिया है। उन्होंने अपने निष्कर्षों में अनाविल दृष्टि और गम्भीर चिंतन का परिचय दिया है। अतः उनके निष्कर्ष एक देशीय और एक स्थानीय नहीं रहे हैं। यदि वे बुन्देली लोक-संस्कृति की बात करते हैं, तो उसके साथ भारतीय संस्कृति को भी जोड़कर देखते हैं। डॉ. गुप्त सिद्धांतों को प्रतिपादित भी करते हैं और उन्हें व्यवस्थित भी करते हैं। वे इतिहास की अंतःशक्ति के शोधक भी हैं और इसी आधार पर वे इतिहास को नए कोण से देखते हैं। इस सबके लिए वे एक गम्भीर अनुसन्धित्सु की तरह सक्रिय रहते हैं। वे एक सुधी रिसर्चर हैं। सामग्री संकलन से लेकर विवेचन, विश्लेषण और स्थापन तक वे संयत और तर्काश्रित विवेक का ही सहारा लेते हैं। उनके शोध के आधार प्रमाण-पुष्ट हैं। प्रमाणों के लिए उन्होंने लोक-साहित्य की मौखिक परम्परा से लेकर लिखित साहित्य के अनेक प्रमाण अपनी शोध यात्रा के लिए पाथेय रूप में ग्रहण किए हैं। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत से लेकर बुन्देली तक के उद्धारण उन्होंने अपने स्फुट शोध निबंधों में तथा अपने ग्रंथों में प्रयुक्त किए हैं। उन्होंने विभिन्न कला-माध्यमों, पुरातात्विक एवं प्रागैतिहासिक आकल्पन के भी पुख्ता उदाहरण ग्रहण किए हैं।

वे बुन्देली लोक संस्कृति के लिए विजातीय पुरुष नहीं हैं और न ही वे बौद्धिक अतिचार के शिकार हैं। वे लोक-संस्कृति के न केवल अध्येता हैं, अपितु उनके मन में बुन्देली लोक-संस्कृति के प्रति अपनत्व का गहरा भाव है, इसीलिए वे कोरे सिद्धांतवादी नहीं हैं और न ही वे अपने इस तरह के लेखन के लिए केवल टेबुल वर्क का सहारा लेते हैं। वे स्वयम् गाँव-गाँव चलकर अपनी सामग्री को प्रथम स्रोतों से ही ग्रहण करते हैं। इन कथनों का ये अर्थ कदापि न लिया जाए कि बुन्देली के प्रति उनकी आशक्ति उनके द्वारा दी गई स्थापनाओं में उनकी पक्षधरता को व्यक्त करती होगी। वे लोक-संस्कृति की नीर-क्षीर विवेक दृष्टि से भी आपूरित हैं, इसलिए भी उनका बुन्देली मोह-उनके शोध को बाधित नहीं करता है। वे ऐसे अवसरों पर स्वयम् कहीं उपस्थित नहीं होते हैं, होते हैं तो उनके प्रमाण, उनके तर्क और

उनके निर्दोष निष्कर्ष। उनकी यही विशेषताएँ उनसे लोक-संस्कृति की इतिहास-चेतना पर अद्वितीय कार्य करा सकी हैं।

उनकी भाषा शोध के प्रतिमानों के अनुकूल है। कुछ अंशों में उससे भी आगे। वे केवल समीक्षक या शोधकर्ता होते, तो शायद उनकी भाषा शुष्कता से परिपूर्ण होती, किन्तु वे एक सर्जक भी हैं। उन्होंने सर्जनात्मक साहित्य की रचना करते हुए अपनी भाषा की सृजन शक्तियों का विकास किया है और वे जब इन शक्तियों का इस्तेमाल अपनी शोध-भाषा के लिए करते हैं, तब उनकी शोध-भाषा मात्र तथ्य प्रस्तुत करने वाली नहीं होती है, उसमें निहित सर्जनात्मकता पाठकीय आकर्षण से परिपूर्ण रहती है।

डॉ. गुप्त का इतिहास-बोध बिल्कुल आधुनिक है और वे इतिहास की नई संवेदनाओं की तलाश में तत्पर हैं। लोक पर पड़ रहे आधुनिक दबावों को भी वे अनुभव करते हैं और लोक की रक्षा की चिंता भी उनके पास है। अतः उनके लोक-संस्कृति के इतिहास विषयक अध्ययन की सम्पूर्ण गहराई को यदि हम बहुत संक्षिप्त में कहना चाहें तो उन्हीं के शब्दों में – ‘इतिहास का अवगाहन पूरे व्यक्तित्व की खोज है, उसके व्यक्तित्व में आत्मसात संस्कृति और लोक संस्कृति के प्रवाह का मूल्यांकन है। लोक-संस्कृति और लोक-साहित्य को पुराना और अपरिवर्तनीय मान लेने से तमाम भ्रान्तियाँ अमरबेल की तरह लोक-संस्कृति की छतनार विटपी को निगल रही हैं। अगति और जड़ता की इस मानसिकता से बचने के लिए लोक-संस्कृति के इतिहास की जरूरत है।’

भारतीय इतिहास की प्रामाणिक तलाश लोक के आधार पर ही की जा सकती है। इतिहास को प्रस्तुत करने वाली लोक-परम्परा भारतीय इतिहास के चिरंतन को विकासशील संदर्भ में प्रस्तुत करने वाली रही है। अतः इतिहास की यह लोक परम्परा हमारे जातीय जीवन की समग्रता को पहचानने में एक नई दृष्टि देती है। लोक-संस्कृति अपनी ग्रहणशील गत्यात्मकता, अपने पारदर्शी स्वभाव और अपनी अभेद दृष्टि के कारण भारत के सहज स्वरूप को प्रकट करने में समर्थ है। भारत के विभिन्न लोकांचलों की लोक संस्कृति के इतिहास का समाहार कदाचित्त भारत के सम्यक् इतिहास को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता



है। हमारा अब तक का इतिहास अधिक प्रामाणिक इसलिए नहीं हो पाया है कि इसको उपरंगी धारणाओं और उपनिवेशवादी दृष्टि से रचा गया है। अंग्रेजों ने जिस भारतीय इतिहास को रचा, उसमें उनके निहित स्वार्थ सन्निहित हैं। यही कारण है कि हमारी इतिहास दृष्टि अनेक स्तरों पर धूमिल होकर तथ्यों की साफ चमक को ओझल कर देती है।

लोक संस्कृति से अनुमोदित इतिहास संप्रभु की संरचना नहीं कर पायेगा। क्योंकि हमारे पास अनेक तरह के प्रमाण और साक्ष्य अभी भी इन इतिहास तथ्यों की जाँच-परख के लिए उपलब्ध हैं। यहाँ मैं यह नहीं कहना चाहता कि लोक संस्कृति का इतिहास हमारे इतिहास की रचना का मूल आधार हो सकता है। किन्तु मैं यह अवश्य स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक इयत्ता के विस्तार में ही सही इतिहास दृष्टि विकसित हो सकती है। जबकि जो इतिहास पढ़ा-पढ़ाया जाता है, वह मात्र तिथि और घटना प्रधान है, जिसमें सामन्तों, राजाओं और प्रभुओं की जयों-पराजयों का ही उल्लेख होता है। अधिक से अधिक इनको केन्द्र में रख कला और संस्कृति का क्वचित् प्रक्षेपण कर दिया जाता है। इस तरह के इतिहास में रचनाकार की प्रतिबद्धता का परिणाम भी इतिहास में संप्रभु उत्पन्न कर देने वाला रहा है। अतः इतिहास की समग्रता से खोज, बिना लोक संस्कृति के अध्ययन के संभव नहीं है। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त की पुस्तक 'बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास' इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण उपक्रम है। यह पुस्तक इतिहास की दूसरी परम्परा की शिनाख्त ही नहीं करती, अपितु उसे अपने कलेवर में इस परम्परा की पुख्ता और अविच्छिन्न विकास-यात्रा को भी सांगोपांग रूप से प्रस्तुत करती है।

लोक संस्कृति की ग्रहणशील गत्यात्मकता की चर्चा करते हुए डॉ. गुप्त ने स्वीकार किया है कि लोक संस्कृति ने अपने ऊपर पड़े प्रभावों को आत्मसात किया है और परिवर्तनशील परिस्थितियों से प्रभावित होकर वह अपने समय, समाज में कालचक्र को भी धारण करती चली है। इसलिए इतिहास के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की खोज इसके माध्यम से संभव है। इसी सत्य का उद्घाटन पुस्तक-रचना की संकल्पना है। सम्पूर्ण पुस्तक को आठ परिवृत्तों में विभाजित किया गया है। लोक संस्कृति की यह आठ दिशाएँ हैं। अंचल विशेष की भौगोलिक सीमा तय करना

जटिल कार्य है। विद्वान लेखक ने बुन्देलखण्ड के सीमांकन के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों का सतर्क विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भौगोलिक दृष्टि से नदियों और पर्वतों के आधार पर जो सीमांकन किया गया- वह एक मोटा-मोटा सीमांकन है। डॉ. एस.एम.अली, पार्टिजर जयचन्द्र विद्यालंकार और डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी मानक सीमाओं का निर्धारण इन्हीं आधारों पर किया है। बुन्देलखण्ड की सीमा का निर्धारण लोक ने भी अपने अनुसार किया है, जो उपरोक्त विद्वानों के निष्कर्षों के करीब है- 'इत चम्बल उत नर्मदा, इत यमुना उत टोंस।' राजनैतिक इकाई को आधार मानकर भी इस दिशा में प्रयत्न किए गए हैं और कुछ प्रयत्न बुन्देली बोली के स्वरूप पर भी निर्भर रहे हैं। इन सभी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बुन्देलखण्ड की इकाई फैलती-सिकुड़ती रही है। डॉ. गुप्त ने बुन्देलखण्ड की समशीलता इकाई का अन्वेषण करते हुए लोक-संस्कृति को महत्वपूर्ण माना है। भाषाई और सांस्कृतिक पहचान के आधार पर डॉ. गुप्त द्वारा निर्मित बुन्देलखण्ड की सीमाओं से अधिकांशतः सहमत हुआ जा सकता है।

डॉ. गुप्त ने बुन्देली लोक-संस्कृति के उद्भव और विकास को वैज्ञानिक आधार पर विवेचित किया है। बुन्देलखण्ड का अधिकांश हिस्सा नर्मदा घाटी में विस्तारित है। नर्मदा घाटी की सभ्यता सिंधु सभ्यता से पहले की है। बुन्देलखण्ड प्रागैतिहासिक शैलचित्रों और पुरा जीवाश्मों को अपने कोख में समेटे है। इन आधारों पर इसकी प्रागैतिहासिक लोक-संस्कृति के चिह्न इन प्रमाणों से प्राप्त होते हैं। इन शैलचित्रों में भारतीय सभ्यता के विभिन्न स्तर मिल जाते हैं। आर्यों के प्रवेश के बावजूद यहाँ की वन्य जातियों की लोक संस्कृति बहुत लम्बे काल तक उनसे अप्रभावित रही। वन्य जातियों की लोक संस्कृति के सामूहिक नृत्य वाद्य, दृश्यकला और लोक विश्वास एक तरह से अक्षुण्ण रहे और इन्होंने आर्य संस्कृति में भी प्रवेश प्राप्त कर लिया। महाजनपद काल में आर्य और अनार्य संस्कारों का संघटन हुआ। लोकादर्शों को वरीयता के अनुसार अपनाया गया। लोक कलाओं में बदलाव आया। इस बदलाव के परिणामस्वरूप बाद की सांस्कृतिक यात्रा में लोक ने अनेक लोकोत्तर तथ्यों को अपने अनुसार ढाला। यक्ष-पूजा लोक में मनिया देव के रूप में गाँव-गाँव में प्रतिष्ठित हुई। डॉ. गुप्त ने लोकायत्तीकरण के अनेक पुष्ट

प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। नाग-वाकाटक काल में सिक्कों पर प्राकृत एवं लोक चित्रों का अंकन, मृण्मूर्तियों में लोक कलाओं की हिस्सेदारी इस तरह के प्रबल प्रमाण हैं, जिनसे बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति की गत्यरता और ऊर्णनाभिता का अनुभव होता है।

श्री हर्ष के बाद गोण्ड, कोल, भील, यादव, दाँगी, राऊत आदि जातियों के क्षेत्रों का अधिकार प्रबल हुआ। इनका सामना चंदेलों को करना पड़ा। बुन्देली लोक-संस्कृति में इस युग में एक गहरी उछाल आई, जो अपनी सम्पूर्ण ताकत के साथ दृश्य पटल पर छा गई। लोक-मूल्य, लोक-विश्वास, लोक-वार्ता आदि की हिलोर ने बुन्देली लोक संस्कृति को विशिष्ट स्थान दिलाया। चन्देलकाल में बुन्देली लोक-संस्कृति के प्रभाव को विस्तार और गहराई प्राप्त हुई। ओरछा के राजनीतिक केन्द्र के रूप में उभरने के साथ ही क्षात्र धर्म लोक संस्कृति के मूल्यों से ओतप्रोत हो उठा। पुनरुत्थान काल एवं आधुनिक काल में बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति में संक्रमण का दौर चला, जो आज भी जारी है। इस विवेचन में डॉ. गुप्त ने बुन्देली लोक-संस्कृति की पड़ताल उसकी द्वन्द्वात्मकता में की है। यह द्वन्द्वात्मकता उसके विकास की आधार भी बनती है। ग्रहण और त्याग की वृत्ति बुन्देली संस्कृति में रही है, किन्तु उसने जो ग्रहण किया है, उसे अपने अनुरूप ढालकर ही ग्रहण किया है। इसलिए अपने भीतर विजातीय तत्वों का समाहार भी उसने अपनी शर्तों के अधीन किया है।

इतिहास की अन्तर्वर्ती धारा सिद्धांत और चिंतन के उद्वेलनों से वेगवती होती है। इतिहास की अंतःक्रियाओं में चिंतानुगत सिद्धांतों की द्वन्द्वात्मक चेतना समूह की मानसिक धाराणाओं को भी व्यक्त करती है और समाज के आंतरिक ढाँचे को क्रियाशील करने की उत्प्रेरणा भी देती है। लोकदर्शन, लोकमूल्य, लोकधर्म और लोक विश्वास निश्चित ही इतिहास चेतना को प्रभावित करने वाले तत्व हैं। बुन्देलखण्ड में भूदेवी की पूजा इस अंचल के समूह जीवन में व्याप्त पृथ्वी की उर्वरता और उसकी सृजन क्षमता से उत्पन्न ऐहिक आपूर्तियों से संबंधित होते हुए भी कालान्तर में लोकदेवी की तरह प्रतिष्ठित होती गई- जिसमें अनेक लोक विश्वासों का स्तरीकरण हुआ। लोक मूल्यों की चर्चा करते हुए डॉ. गुप्त ने बुन्देलखण्ड गौड़ी संस्कृति को बुन्देलखण्ड में लोक मूल्य की संस्कृति का आधार माना है। वीरत्व और त्याग को भी बुन्देलखण्ड में लोक मूल्य की तरह स्वीकृत किया गया है। इन

मूल्यों से मण्डित व्यक्तित्वों को देवत्व की श्रेणी में भी समाहित कर लिया गया। हरदौल के चरित्र का विकास इन्हीं लोक मूल्यों पर आधारित रहा है। डॉ. गुप्त के निष्कर्षों में जो लोक मूल्य महत्त्वपूर्ण रहे हैं- उनमें पत की रक्षा, सतीत्व की रक्षा, मोक्ष की प्राप्ति आदि भी समाहित हो जाते हैं, किन्तु बुन्देलखण्ड में लोक मूल्यों का एक ऐसा भी संसार सक्रिय रहा है, जो इस क्षेत्र को जड़त्व में कसता गया है। लोक में इन मूल्यों का समावेश सामन्ती परिवेश की चाकचिक्य के आकर्षण का परिणाम रहा है। इन मूल्यों को हासमूलक सामन्ती मूल्यों की तरह ही माना जा सकता है। बुन्देलखण्ड के लोक समाज पर इनका असर है और इन्हें आदर्श मूल्यों की भाँति ग्रहण किया गया है। श्रम को हेय मानकर आरामतलब जीवन के प्रति उच्चता का भाव बुन्देली लोक गीतों में है- 'बैठी हो रईयो रानी सतखण्डा पर, खईयो डबन के पान हो।' सतखण्डा महलों में पान के बीड़ा चबाने वाली स्त्री आदरणीय बन जाती है। बुन्देली व्यक्ति के भीतर जो जीवन के प्रति एक यथास्थितिवादी नजरिया है- जिसे काहिली भी कहा जा सकता है, उसके उत्स का निदर्शन भी जरूरी है। लोकधर्म के अंतर्गत इस तथ्य पर विचार किया गया है। डॉ. गुप्त ने स्पष्ट किया है कि उत्तर मध्य युग में लोकधर्म पतनशील हो गया था। भाग्य पर भरोसा करने के कारण दासता से मुक्ति का द्वार न खोला जा सका। तत्कालीन व्रतकथाओं से स्पष्ट है कि लोकधर्म, व्यक्तिधर्म बनकर सिकुड़ गया था और लोक चेतना का हास हो गया था। लोक विश्वास व्यवहार से निष्पन्न सामूहिक अनुभव है। बुन्देलखण्ड के लोक विश्वासों की व्यापक खोजबीन लेखक ने की है। प्रकारान्तर से ये दार्शनिक निष्पत्तियाँ बुन्देलखण्ड के लोकमत को व्यक्त करती हैं। उस लोकमन को जो इतिहास की धारा से मुठभेड़ करता हुआ- अपना रास्ता कहीं एकान्तिकता में तलाशता है- कहीं पूजन-भक्ति में, कहीं मंत्र-तंत्र में और कहीं वैराग्य भावना में और कहीं युद्ध-प्रसंगों के मरण-वरण में।

व्यक्ति के आचरण मूलक विकास के और उसके सज्जा और मनोविनोद परक बाह्य संस्कारों के परिवृत्तों का अध्ययन भी लोकाचारों के इतिहास पक्ष से सम्बंधित है। डॉ. गुप्त ने बुन्देलखण्ड के आचार और व्यवहार में आदिवासी जीवन पद्धतियों का समावेश संस्कृति की आधार शिलाओं के रूप में स्वीकार किया है। इस विकास-यात्रा में वैदिक पद्धतियों का समावेश भी होता है। वैदिक

पद्धतियों में भी बुन्देली लोकाचारों ने दखलन्दाजी की है। स्वीकृति और वर्जनाओं का समावेश भी मिश्रित लोक संस्कृति की तासीर में हुआ। डॉ. गुप्त ने इस ग्रन्थ में बुन्देली लोकाचारों और लोक व्यवहारों का विशद विवेचन किया है। लोक देवता के रूप में लक्ष्मी, मनयाँदेव, हरदौलजू आदि का ऐतिहासिक और दर्शनिक विवेचन बुन्देली लोक संस्कृति की मौलिक अवधारणा को प्रस्तुत करता है। बुन्देली व्रत, उपवास, त्योहार, पूजापाठ और ललित कलाओं का विकासात्मक विवेचन कला के ऐतिहासिक पक्षों को उजागर करने वाला है। कजरिया, सुअटा, नौरता, दिवारी फाग, मामुलिया में खाँटी बुन्देली पहचान केन्द्रित है। यह विस्तृत अध्ययन एक ओर जहाँ बुन्देली संस्कृति की अस्मिता का विश्लेषण करता है— वहीं इसमें निहित लेखकीय निष्कर्ष बुन्देली संस्कृति के इतिहास की धारणाओं को लोक की सीमा से ऊपर उठकर इतिहास की क्रियाशील पूँजी के रूप में व्यक्त करते हैं।

विद्वान लेखक ने अपने तर्कों और अपनी मान्यताओं की पुष्टि हेतु इतिहास, काव्य, लोक काव्य, लोक कथाओं, लोक मान्यताओं और लोक विश्वासों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। कुछ एकदम नवीन और मौलिक स्थापनाएँ लेखक ने अपनी नैष्ठिक शोध क्षमता के आधार पर स्थापित की हैं। मसलन यक्ष-पूजन का विकास बुन्देलखण्ड में एक लोक देव के रूप में मनियाँदेव की पूजा के प्रसंग के रूप में प्रत्यक्ष होता है। मणिभद्र यक्ष ही मनियाँदेव है। गाँव-गाँव के ठाकुर के रूप में मणिभद्र यक्ष ही पूजे जाते हैं। मध्यकाल में अखाड़ों की परम्परा जो कलाओं के

क्षेत्र में अपने सम्पूर्ण विस्तार में प्राप्त होती हैं— एक तरह से संगीत और कविता के विकास में बहुत सहायक रही है। इस अखाड़ा परम्परा का ऐतिहासिक निदर्शन सम्भवतः पहली बार इस कृति के माध्यम से हो सका है। लोक संगीत में फाग का भी विस्तार से वर्णन फाग के ऐतिहासिक विकास को प्रस्तुत करता है। निश्चित ही यह ग्रंथ ऐतिहासिक महत्त्व का है, जो इतिहास परक अध्ययन को नई दृष्टि प्रदान करने में समर्थ है। लोकांचलों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का राष्ट्र की अस्मिता संरचना में कितना कुछ योगदान हो सकता है इस प्रश्न का भी सकारात्मक उत्तर यह ग्रंथ है। इतिहास की यह दूसरी परम्परा निश्चित ही इतिहास के क्षेत्र में भारतीय दृष्टि का सम्यक् प्रतिपादन कर सकेगी। लेखक ने यह शोध परम्परित शोध दृष्टि न अपनाकर शोध की सही गहराइयों को छूकर की है। इसलिए इसमें ताजगी है— नैरंतर्य है और सप्राणता है। अन्य लोकांचलों की लोक संस्कृति के इतिहास का सिलसिला इस ग्रंथ से प्रारंभ हो सकता है।

डॉ. नर्मदाप्रसाद गुप्त का अधिकांश जीवन मध्यप्रदेश के छतरपुर नगर में व्यतीत हुआ। उन्होंने 'मामुलिया' पत्रिका का सम्पादन किया। मामुलिया में बुंदेलखण्ड के साहित्य और संस्कृति के अनेक अज्ञात संदर्भ का उद्घाटन किया। डॉ. गुप्त ने अपने जीवन काल में बुन्देली साहित्य और संस्कृति को केन्द्र बनाकर लगभग पन्द्रह ग्रंथों की रचना की है। वे बुंदेली संस्कृति के पर्याय व्यक्तित्व बन गए थे।

## देवेन्द्र सत्यार्थी : लोकगीतों की जयगाथा

प्रकाश मनु

लोकगीतों का दरवेश कहें या लोकगीतों का फकीर बादशाह, तो औघड़ और घुमंतू लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी का चेहरा सबसे पहले आँखों के आगे आ जाता है! या फिर 'लोक यायावर'...! यह पदवी सत्यार्थी जी पर खूब फबती है। इसलिए कि जहाँ उन्होंने लोकगीतों के लिए जगह-जगह ठोकें खाई, दुख और अभाव झेले, वहीं ये लोकगीत उनके लिए शक्ति-संबल भी थे, जिन्होंने उन्हें भरपूर आत्मविश्वास दिया और उन्होंने खुद को किसी से कम नहीं समझा, भले ही उनके सामने कोई बड़े से बड़ा राजनेता या फिर स्वयं कोई राजा या महाराजा ही उपस्थित हो। उनके पास लोकगीतों का अपार खजाना था, जिसमें लोगों का मन, करुणा और भावनाएँ शामिल थीं। यह भला दुनिया के किस खजाने से कम था? तो फिर भला उनसे बड़ा 'भूमिपुत्र' और कौन हो सकता था और क्यों वे किसी का रोब मानें?

और यह बात उन कहानियों में भी झलकती है, जिन पर सत्यार्थी जी की अनवरत लोकयात्राओं की गहरी छाप है। मुझे याद आ रहा है, सत्यार्थी जी ने एक कहानी 'लोकगीत की विजय' लिखी थी, जिसमें लोकगीत के कारण ही एक कैदी स्त्री की रिहाई का जिक्र है। क्या यह सच्ची घटना थी? एक बार सत्यार्थी जी की रोमांचक लोकयात्राओं का जिक्र छिड़ा, तो मैंने पूछ लिया।

'हाँ, एकदम सच्ची!' सत्यार्थी जी ने मंद-मंद मुसकराते हुए बताया, 'और यह घटना कुंडेश्वर की है, जब मैं वहाँ चौबे जी के पास रुका हुआ था।' चौबे जी...मतलब, बनारसीदास चतुर्वेदी, जिनकी सत्यार्थी जी से बहुत निकटता थी।

फिर उन्होंने वह पूरा प्रसंग सुनाया। हुआ यह कि एक दफा टीकमगढ़ के राजा महाराज वीरसिंह जू देव ने सत्यार्थी जी के बारे में सुनकर उन्हें मिलने के लिए बुलाया। सत्यार्थी जी गए तो उनकी फरमाइश हुई- 'आपने अब तक जो लोकगीत इकट्ठे किए हैं, उनमें आपको जो सबसे अच्छा लोकगीत लगता हो, वह सुनाइए।'

सत्यार्थी जी ने उन्हें बुंदेलखंडी का एक लोकगीत सुनाया—

चौरई, नौरपा तोरे दिन कढ़ गए,  
कोई टोरै फुँदनिया मोर।

(अर्थात्, चौरई और नौरपा का मौसम तो खत्म हो गया।...घूमा नामक साग विनती कर रहा है—काश, कोई मेरे फुँदने जैसे फूल तोड़े और घर जाकर साग पकाए।)

सुनकर महाराज एकदम चकित। इसमें जीवन के तलछट में रह रहे लोगों की पीड़ा का गहरा संकेत था। गंभीर होकर महाराज ने पूछा- 'आपको यह लोकगीत कहाँ से मिला है?'

अब सत्यार्थी जी के लिए धर्मसंकट की घड़ी थी। वे भला उन्हें कैसे बताते कि उन्होंने यह लोकगीत एक कैदी स्त्री हलकी से सुना है, जो उन्हीं की जेल में बंद है। जेल में उनकी अनुमति के बगैर किसी कैदी से मिलना गैर-कानूनी था, लेकिन सत्यार्थी जी तो ऐसे मामलों में हरफनमौला थे। जहाँ भी कोई अच्छा लोकगीत मिलने की संभावना होती थी, वहाँ किसी न किसी तरह पहुँच ही जाते थे। फिर चाहे वह जेल हो, खेत-खलिहान या जंगल, कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। कोई अगर किसी लोकगीत की तारीफ कर देता, तो वे किसी भी तरह अपने आपको रोक नहीं पाते थे। और सोचते थे, यह लोकगीत उनकी कॉपी में दर्ज होना ही चाहिए। मगर महाराजा से वे कैसे कहें कि वे उनकी अनुमति लिए बगैर जेलखाने में गए थे!

महाराज ने उनका संकोच भाँप लिया। बोले- 'आप निःसंकोच कहिए।'

सत्यार्थी जी ने कहा- 'यह लोकगीत मैंने एक कैदी स्त्री से सुना है। आप उसे क्षमादान देने का वचन दीजिए तो उसका नाम बता सकता हूँ।'

महाराज ने कहा- 'अगर उसने कोई बहुत संगीन जुर्म न किया हो तो मैं उसे रिहा करने का वचन देता हूँ।'

इस पर सत्यार्थी जी ने उस स्त्री का नाम बता दिया और जेल में जाकर लोकगीत सुनने का पूरा वृत्तांत भी। महाराज ने बुरा नहीं माना। बल्कि कुछ दिनों बाद, जब सत्यार्थी जी यात्रा में थे, तो उन्हें बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने सूचना दी थी कि महाराज ने उस स्त्री को जेल से रिहा कर दिया है। बाद में इस पर सत्यार्थी जी ने एक कहानीनुमा संस्मरण लिखा- 'लोकगीत की विजय'। कहानी सीधी-सरल है, कहीं कोई गुंजलक नहीं। पर पढ़ते हुए लोकयात्री सत्यार्थी की लोकयात्राओं और लोक साहित्य अध्ययन का पूरा मर्म आँखों के आगे आ जाता है।

'...आज भी मनु जी, इस घटना की याद मुझे रोमांचित करती है। और मैं सोचता हूँ, इतना सुंदर, सुरीला लोकगीत गाने वाली वह मजदूरन स्त्री भला अपराधी कैसे हो सकती है? असल में अपराधी लोग होते नहीं, अपराधी उन्हें बना दिया जाता है, खासकर तब, जब हम उनके मन को मार देते हैं...!'

सत्यार्थी जी भावुक होकर बता रहे थे। और उनके शब्दों में न्याय की एक अलग ही परिभाषा रूप ले रही थी, जिसमें अपराधी केवल व्यक्ति नहीं, बल्कि वे स्थितियाँ होती हैं, जिसमें एक अजब-सी निराशा में बहुत कुछ अघट घट जाता है। तो ऐसा व्यक्ति तो सहानुभूति का पात्र होना चाहिए, 'दुर-दुर' का क्यों? अभी ऐसा लोक-न्याय भले ही न हो, पर हम ऐसे समय का सपना तो देख ही सकते हैं, जिसमें अपराधी और उसके गुनाह को भी थोड़ी संवेदना और सहानुभूति से देखा-परखा जाएगा।

शायद इसी नजरिए की वजह से सत्यार्थी जी जब लोकगीत की बात करते हैं, तो सिर्फ लोकगीत ही नहीं, समूचा लोक अपने सुख-दुख की पूरी व्याप्ति के साथ उनकी आँखों में मौजूद रहता था। इसीलिए सत्यार्थी जी के लोकगीत-अध्ययन और अनवरत लोकयात्राओं को इतना सम्मान मिला। और जहाँ-जहाँ उनके कदम बढ़े, राहें खुद-ब-खुद बनती चली गईं।

यहाँ तक कि लोकगीतों की इस सहज पुकार और मार्मिकता ने उन्हें गुरुदेव टैगोर और महात्मा गाँधी के भी निकट पहुँचा दिया। सत्यार्थी जी की लोकयात्राओं को गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर

और महात्मा गाँधी का आशीर्वाद मिला था, जिसने उनकी बहुत-सी मुश्किलें आसान कर दीं। गाँधी जी ने सत्यार्थी जी के लोकगीत-संग्रह के काम की बहुत तारीफ की थी और उनकी घुमक्कड़ी और लोकयात्राओं को अकसर वे बड़े प्यार से याद करते थे। सत्यार्थी जी जब रावलपिंडी में बलराज साहनी के घर रुके हुए थे, तभी महात्मा गाँधी के हाथ का लिखा पहला पत्र उन्हें मिला।

गाँधी जी से उनकी मुलाकात कब, कैसे हुई? और उनकी कैसी छवि उनके मन में अंकित है? इस बारे में पूछने पर सत्यार्थी जी पुरानी स्मृतियों में खो गए। चेहरे पर हल्की-सी उजास। एक लंबा सुर भरते हुए बोले- 'ऐसा है मनु जी, बनारसीदास चतुर्वेदी जब 'विशाल भारत' के संपादक थे, तो वे लोकगीतों पर मुझसे लेख लिखवाते थे। गाँधी जी उन लेखों को पढ़ते थे और तारीफ भी करते थे। एक बार बनारसीदास चतुर्वेदी ने ही उनसे मुझे मिलवाया था। बड़ी संक्षिप्त-सी मुलाकात थी। गाँधी जी को शायद यह याद ही नहीं रही। इसलिए के.एम. मुंशी की 'गुजरात एंड इट्स लिटरेचर' किताब की जब उन्होंने भूमिका लिखी तो उसमें बड़े प्यार से मेरे काम का जिक्र किया, पर साथ ही उसमें मेरे बारे में यह पंक्ति भी है कि 'देवेन्द्र सत्यार्थी...हूम आई हैव नॉट यट मेट!' जबकि इससे पहले ही उनसे मेरी एक छोटी-सी मुलाकात हो चुकी थी।'

बाद में सत्यार्थी जी ने उनसे पत्र-व्यवहार किया तो उन्होंने कुछ बहुत ही प्यारे खत उन्हें लिखे, जिनमें उनके लोकगीत-संग्रह को 'भारतमाता का काम' कहा गया। यह उल्लेख भी उन्होंने किया कि 'विशाल भारत' में तुम्हारे लेख मैं बराबर रस लेकर पढ़ता रहता हूँ।'

बड़े ही भरोसा देने वाले पत्र थे वे, जिन्होंने सत्यार्थी जी की धुन को और बढ़ाया। उनके रास्ते भी कुछ आसान होते चले गए। गाँधी जी का आशीर्वाद न मिला होता, तो शायद वे अपने काम में इतने सफल न हो पाते।

'उनका सान्निध्य मेरे लिए एक वट-वृक्ष की छाया जैसा था और उससे मेरा हौसला भी बढ़ा!' सत्यार्थी जी कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते हैं।

सन् 1936 में हुए कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में तो

सत्यार्थी जी एक विशिष्ट अतिथि की हैसियत से शामिल थे। महात्मा गाँधी ने काका कालेलकर को खासकर सत्यार्थी जी के पास भेजा कि 'उस दाढ़ी वाले को साथ लेकर आओ!' काका कालेलकर के साथ सत्यार्थी जी गए तो गाँधी जी बहुत प्रेम से मिले। सभी से उनका परिचय कराया गया। इसी अधिवेशन में मिसेज स्वाइन (फ्रीडा बेदी की माँ) को सत्यार्थी जी ने गाँधी जी से मिलवाया तो वे परिहास के मूड में बोले- 'पता नहीं, आपने मेरे बारे में क्या इमेज बना रखी होगी, बट आय एम द लाफिंग महात्मा ऑफ इंडिया...!' और जोरों से हँसे!

जब अधिवेशन खत्म हुआ तो गाँधी जी ने सत्यार्थी जी को अलग से बातचीत के लिए बुलाया। बड़े प्यार से आग्रह करते हुए बोले- 'मेरे साथ वर्धा चलो।'

सत्यार्थी जी ने कहा- 'बापू, आप मेरे साथ बम्बई चलिए।'

गाँधी जी बोले- 'मुंबई जाकर मैं क्या करूँगा?'

पर सत्यार्थी जी भी अपने रंग में थे। उन्होंने तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया- 'मैं वर्धा में क्या करूँगा?'

गाँधी जी बोले- 'ठीक है, लेकिन मुंबई में रुकोगे कहाँ?'

सत्यार्थी जी ने कहा, 'बापू, आप से तो मेरा अभी परिचय ही हुआ है और आप अभी से मेरी इतनी चिंता करने लगे। पर मैं तो जाने कब से यही काम कर रहा हूँ। मैं तो कहीं भी रुक सकता हूँ—राह में किसी पेड़ के तले, किसी झोपड़ी में, धर्मशाला में...कहीं भी! मैं तो फुटपाथ पर भी सो सकता हूँ, मुझे आदत है इसकी!'

सत्यार्थी जी की बात सुनकर गाँधी जी ने अपने पास खड़े सेवा दल के एक कार्यकर्ता से कहा- 'बुलाओ मुंशी को!'

थोड़ी देर में के.एम. मुंशी वहाँ आ गए। सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर खड़े हो गए। गाँधी जी ने कहा- 'मुंशी, तुम अकेले आए हो। लीलावती को साथ नहीं लाए? चलो, अब ऐसा करो। लीलावती से कहना, उसने घर में जो एक कमरा मेरे लिए रिजर्व कर रखा है, उसकी चाबी इस दाढ़ी वाले को दे दे। और इससे यह न पूछना, यह कब तक रहेगा? जब तक यह उसमें रहना चाहे, रहे। जब इसका काम पूरा हो जाएगा, यह चला जाएगा।'

गाँधी जी बोल रहे थे और के.एम. मुंशी किसी विनम्र और आज्ञाकारी बालक की तरह सिर झुकाए सुन रहे थे।

‘मेरे लिए इतना प्यार, इतनी हमदर्दी थी बापू की आवाज में कि क्या कहूँ! इसके बाद तो उनसे बहुत मुलाकातें हुईं। आखिरी मुलाकात उनकी शहादत से सिर्फ एक दिन पहले हुई थी।’ सत्यार्थी जी भावुक होकर बता रहे थे।

‘अच्छा, कुछ याद है आपको उस मुलाकात के बारे में? क्या बातें हुई थीं? क्या उन्हें मृत्यु का कुछ आभास था? क्या लगता है आपको?’ मैंने जानना चाहा।

‘गाँधी जी मेरी लोक साहित्य की पुस्तक ‘धरती गाती है’ की भूमिका लिखने वाले थे। ज्यादातर तो उसी के बारे में बातें हुई थीं।’ सत्यार्थी जी ने बताया- ‘गाँधी जी एकदम प्रसन्न मूड में थे। कहीं कोई भय या विषाद की अप्रिय छाया नहीं!...’

इसी मुलाकात में उन्होंने हँसते हुए सत्यार्थी जी से कहा था, ‘जिस काम में तुम्हारे बीस साल खर्च हुए, उसके लिए मैं बीस दिन तो ले ही सकता हूँ।’

सत्यार्थी जी ने जब उनसे कहा कि बापू, आप तो वर्धा जा रहे हैं, तो वे बोले- ‘मुझे तो नहीं पता, कौन सा गाँधी वर्धा जा रहा है! क्या वह वहाँ मरने जा रहा है?’

फिर गाँधी जी ने कहा- ‘ब्रजकृष्ण से कह दो, वह मेरे सामने से तुम्हारी यह हस्तलिखित पांडुलिपि न उठाए। हो सकता है, कल ही मैं यह भूमिका लिख दूँ!’

‘...लेकिन अगले दिन ही वे शहीद हो गए!’ बताते समय सत्यार्थी जी की आवाज थरथराने लगी थी, आँखें डबडबा गईं!

फिर देर तक मेरा कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

2

सत्यार्थी जी की लोकयात्राओं में ‘मॉडर्न रिव्यू’ के संपादक रामानंद चटर्जी का योगदान भी बड़ा है। और उन्हीं के कारण न सिर्फ अंग्रेजी में उनका नियमित रूप से लिखना शुरू हुआ, बल्कि विदेशों में भी उनके लोक-अध्ययन की गूँजें-अनुगूँजें पहुँचीं। हालाँकि रामानंद चटर्जी से उनकी मुलाकात भी किसी रोचक किस्से-कहानी जैसी है।

सत्यार्थी जी की पुस्तक ‘मीट माई पीपल’ में उनके अंग्रेजी में लिखे गए वे लेख संगृहीत हैं, जो ‘मॉडर्न रिव्यू’ और न्यूयार्क की ‘एशिया’ मैगजीन में छपे थे। आज भी लोक साहित्य के अध्ययन में यह पुस्तक मील का पत्थर मानी जाती है। लेकिन सत्यार्थी जी के लिखने की शुरूआत तो पहले उर्दू और फिर हिंदी में हुई थी। तो फिर अंग्रेजी में उनका लिखना कब से शुरू हुआ?’

यह जिज्ञासा सत्यार्थी जी के आगे आई, तो उन्होंने मुसकराते हुए कहा- ‘इसका भी एक लंबा किस्सा है। आप कहें तो सुनाऊँ!’ और फिर एक अनोखा किस्सा मेरी झोली में डाल दिया गया, जिसमें उनके बचपन के मित्रों के अलावा मास्टर के. हरसिंह थे, कालिदास नाग थे, रामानंद बाबू और स्वयं गुरुदेव भी थे।

हुआ यह कि सत्यार्थी जी के गाँव में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए मास्टर जी थे—मास्टर के. हरसिंह। वे कुछ अजीब शख्स थे। उनका दावा था कि पूरे मुल्क में सिर्फ तीन लोगों को अंग्रेजी आती है। उनमें एक तो वह स्वयं को रखते थे, बाकी दो नाम और लिया करते थे। उनमें एक प्रिंसिपल तेजासिंह थे, दूसरे अध्यापक पूर्णसिंह।

एक दिन मास्टर के. हरसिंह ने बातों-बातों में सत्यार्थी जी से कहा- ‘तुम अंग्रेजी में क्यों नहीं लिखते?’

सुनकर सत्यार्थी जी अचकचा गए। उन्होंने कहा- ‘कैसे लिखूँ? मेरी अंग्रेजी तो उतनी अच्छी नहीं है।’

इस पर मास्टर के. हरसिंह ने बढ़ावा दिया। बोले- ‘तुम लिखो तो सही, उसे ठीक करने का जिम्मा मेरा रहा।’

खैर, उन्हीं दिनों लोकगीतों पर सत्यार्थी जी का एक लेख छपा था ‘विशाल भारत’ में! उन्होंने बचपन के अपने मित्रों की मदद से उसे अंग्रेजी में उल्था किया, किंतु उन्हें उससे पूरी तसल्ली नहीं हुई थी। उसके कुछ समय बाद वे कोलकाता गए तो उस लेख को भी साथ ले गए। वे चाहते थे कि कोई सही आदमी मिले जो थोड़े साहित्यिक रुझान का हो और बढ़िया अंग्रेजी जानता हो। वह अच्छी तरह से लेख देख ले, तो उन्हें भरोसा हो सकता था।

ऐसे ही दो-तीन लोग मिले, जिन्होंने लेख को थोड़ा-बहुत

टच किया... या कोई एकाध शब्द जोड़ा-निकाला। पर उसे लेकर अब भी सत्यार्थी जी के मन में संशय था। फिर एक दिन एक भद्र और समझदार लग रहे व्यक्ति से जब सत्यार्थी जी ने इसे देख लेने का अनुरोध किया, तो उसने पास की एक कोठी की ओर इशारा करके कहा- 'वहाँ एक सज्जन रहते हैं। अगर आप उनके पास चले जाएँ तो आपकी सारी समस्या दूर हो जाएगी।'

सत्यार्थी जी गए तो वहाँ जो सज्जन मिले, उन्होंने सचमुच बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया। लेख पढ़ा और चिल्लाकर किसी को पुकारा, 'सीते...!'

तुरंत उनकी पत्नी वहाँ आ गई। उन सज्जन ने वह लेख अपनी पत्नी को पढ़ने के लिए दिया! इस पर उनकी आपस में जो बातचीत हुई, वह तो ठीक-ठीक सत्यार्थी जी के पल्ले नहीं पड़ा, पर वे बार-बार 'बाबार मते... बाबार मते...!' कह रही थीं। इसका मतलब सत्यार्थी जी को बाद में समझ में आया कि यह एकदम बाबू रामानंद चटर्जी की पसंद का लेख है।

उन सज्जन ने सत्यार्थी जी से कहा- 'अमृत बाजार पत्रिका' का दफ्तर पास में ही है। इसे तुरंत 'अमृत बाजार पत्रिका' के संपादक को दे दो। मैं खुद भी उनके नाम दो-चार पंक्तियाँ लिख देता हूँ।'

पंक्तियाँ लिखकर उन्होंने सत्यार्थी जी को फोटो खिंचवाने के लिए पैसे दिए। कहा- 'जाइए, फोटो खिंचवा लीजिए।'

इसके बाद जब वह लेख 'अमृत बाजार पत्रिका' में पहुँचा, तो अगले ही हफ्ते रविवारी परिशिष्ट में छप गया। उन सज्जन की लिखी जो पंक्तियाँ थीं, वे भी लेख के ऊपर इंट्रो के रूप में छाप दी गई थीं। अखबार के पूरे पन्ने पर वह लेख छपा था, बड़ी धूम-धाम के साथ।

वे सज्जन जिनका नाम कालिदास नाग था, रामानंद बाबू के दामाद थे, यह सत्यार्थी जी को बाद में पता चला। और जिसे वे 'सीते' कहकर बुला रहे थे, वह रामानंद बाबू की बेटी थीं।

रामानंद बाबू... यानी 'मॉडर्न रिव्यू' के संपादक रामानंद चटर्जी! 'मॉडर्न रिव्यू' में सत्यार्थी के लोकगीतों पर कई लेख छपे और चर्चित हुए थे। 'अमृत बाजार पत्रिका' उन दिनों बंगाल का

सबसे लोकप्रिय पत्र था, तो 'मॉडर्न रिव्यू' बुद्धिजीवी वर्ग की सर्वाधिक प्रिय पत्रिका जिसमें देशभक्ति की गहरी प्रेरणा और गूँज भी थी। इस तरह 'मॉडर्न रिव्यू' अंग्रेजी की पत्रिका होते हुए भी, एक तरह से राष्ट्रीय स्वाभिमान की पत्रिका बन गई थी।

'मॉडर्न रिव्यू' में सत्यार्थी जी कैसे लिखने लग गए होंगे? इसका एक हल्का-सा अनुमान तो उनके सुनाए हुए प्रसंग से हो जाता है। पर आगे की कथा? रामानंद बाबू सत्यार्थी जी को पुत्रवत मानते थे और बड़े सम्मान से उनकी रचनाएँ छापते थे, यह सत्यार्थी जी ने स्वयं लिखा है! मगर रामानंद बाबू से उनकी इतनी निकटता कैसे हो गई?

यह जिज्ञासा प्रकट करने पर सत्यार्थी फिर से पुरानी यादों की गिरफ्त में आ गए। 'यह भी एक संयोग ही है मनु जी, निखालिस संयोग!' सत्यार्थी जी ने बताया। और फिर आगे का किस्सा भी मेरी झोली में आ गया।

हुआ यह कि 'अमृत बाजार पत्रिका' में वह लेख छपने के कुछ ही रोज बाद सत्यार्थी जी गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर से मिले। उन्होंने वह लेख तब तक पढ़ लिया था। गुरुदेव ने उसकी खूब तारीफ की, लेकिन साथ ही कहा- 'यू हैव वेस्टेड यूवर एनर्जी। यह लेख तो मॉडर्न रिव्यू में छपना चाहिए था।' उन्होंने सत्यार्थी जी को रामानंद चटर्जी से मिलने के लिए कहा।

कुछ रोज बाद मालूम पड़ा कि रामानंद बाबू 'मॉडर्न रिव्यू' के दफ्तर तो आते ही नहीं हैं, घर पर बैठकर ही सारा काम देखते हैं। सत्यार्थी जी ने बनारसीदास चतुर्वेदी से रामानंद बाबू के घर का पता लिया और उनसे मिलने जा पहुँचे।

रामानंद बाबू सत्यार्थी जी से खूब तपाक से मिले। बोले- 'कल ही शांतिनिकेतन से लौटा हूँ। गुरुदेव आपके लेख की बहुत तारीफ कर रहे थे।'

उन्होंने सत्यार्थी जी से आग्रह किया कि 'अमृत बाजार पत्रिका' जैसा कोई लेख वे 'मॉडर्न रिव्यू' के लिए भी लिखें।

इस पर सत्यार्थी जी ने उस लेख के लिखे जाने की पूरी रामकहानी सुना दी और कहा कि इसमें तो बहुत समय लग जाएगा। तब रामानंद बाबू ने उन्हें दूसरा लेख तैयार करने का



अनोखा रास्ता सुझाया। बोले- 'आप 'अमृत बाजार पत्रिका' वाले लेख को कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट लें। फिर उन टुकड़ों को कुछ अलग तरह की तरतीब में जोड़कर तथा बीच-बीच में कुछ पंक्तियाँ लिखकर उसे धीरे-धीरे एक लेख की शक्ति में बदल दें। यह एक नया लेख बन जाएगा, अलग ढंग और तासीर वाला।'

सत्यार्थी जी ने ऐसा ही किया और 'मॉडर्न रिव्यू' के अगले ही अंक में उनका लेख छपा, 'द ग्लिंपसेज ऑफ इंडियन फोक साँग्स'। उसके बाद तो 'मॉडर्न रिव्यू' में उनके एक के बाद एक कई लेख छपे।

सत्यार्थी जी खासे सुर में आकर एक अनोखे 'कथादेश' की सैर करा रहे थे, जिसमें इतिहास और जाने-माने ऐतिहासिक पात्र भी एक नई आभा और उजास में नजर आते थे।

बातों-बातों में यह भी पता चला कि रामानंद बाबू सत्यार्थी जी को अपने बेटे की तरह ही मानते थे और खूब प्यार करते थे। उनके एक बेटे का निधन हो गया था और वे शायद सत्यार्थी जी में उसी का अक्स देखते थे। उन्होंने अपने स्टाफ को आदेश दिया हुआ था कि देवेन्द्र सत्यार्थी के लेखों में टेक्स्ट की भाषा में आप थोड़ा-बहुत टच भले ही करें, लेकिन लोकगीतों के इनके अनुवाद में एक शब्द भी न बदला जाए।

रामानंद बाबू ने ही सत्यार्थी जी को सुझाया कि उन्हें कम से कम आठ घंटे लाइब्रेरी में बैठकर काम करना चाहिए और लोक साहित्य पर लिखी गई अन्य पुस्तकों की मदद लेनी चाहिए। उसके बाद तो उनका काफी समय लाइब्रेरी में ही बीतने लगा। सारे विश्व का लोक साहित्य और उनके गंभीर अध्ययन-मनन पर भी अब उनका ध्यान गया। खासकर कष्टपूर्ण जीवन जीने के बावजूद आदिवासियों के लोकगीतों की सहज उत्फुल्लता और उसमें छिपे अद्भुत जीवन-संगीत पर उनका ध्यान गया।

कोलकाता की नेशनल लाइब्रेरी या राजा राममोहन राय पुस्तकालय, जिसका नाम तब इंपीरियल लाइब्रेरी था, में लगातार काफी समय तक जमकर उन्होंने अध्ययन किया। रामानंद चटर्जी ने सचमुच उन्हें एक नई राह सुझा दी थी, जिससे अलग-अलग देशों और जातियों के लोकगीतों में आश्चर्यजनक साम्य पर पहली बार उनका ध्यान गया। तभी पहली बार समझ में आया कि यह

काम तो आदमी और आदमी को जोड़ने वाला और साथ ही लोगों की आभ्यंतरिक चेतना की परख का है।

हालाँकि बीच-बीच में बड़े मजेदार किस्से भी हो जाते थे। ऐसा ही एक किस्सा उस वक्त का है, जब नेशनल लाइब्रेरी में उनका काम पूरा हो गया और वे अब वहाँ से जाने वाले थे।

'उन्हीं दिनों वहाँ चाय और बिस्कुट वाला किस्सा हुआ था, जिसके बारे में मैंने कहीं लिखा है। शायद आपने पढ़ा हो!' सत्यार्थी जी मंद-मंद मुसकराते हुए बता रहे थे।

'कैसा किस्सा?...कुछ बताइए इस बारे में सत्यार्थी जी!' मैंने उत्सुकता प्रकट की तो सत्यार्थी जी की प्रसन्न हँसी सुनाई देने लगी थी, जैसे रुन-झुन, रुन-झुन घंटियाँ बजी हों। हँसते-हँसते बोले- 'मैंने आपको बताया कि कोई सात-आठ घंटे मेरे कोलकाता की इंपीरियल लाइब्रेरी में कटते थे। मैं वहाँ किताबें पढ़ने और नोट्स लेने में इस कदर लीन हो जाता था, जैसे समाधि में चला गया होऊँ। शरीर का कोई होश ही नहीं रहता था। खाने-पीने की सुध ही नहीं रहती थी। उस दौर का अध्ययन जीवन भर काम आया और मैं हमेशा मन ही मन रामानंद बाबू का शुक्रिया अदा करता था कि उनके कारण मेरी एक बड़ी कमी पूरी हो सकी। और हाँ, एक और कमाल की बात! जब मैं वहाँ बैठकर नोट्स ले रहा होता था तो बीच-बीच में लाइब्रेरियन का भेजा हुआ चाय का कप मेरे पास जरूर आ जाता था।'

जब कई रोज ऐसे ही बीत गए और सत्यार्थी जी का काम पूरा हो गया, तो उन्होंने जाने से पहले लाइब्रेरियन को चाय के लिए धन्यवाद देना जरूरी समझा। लेकिन जैसे ही सत्यार्थी जी ने चाय के लिए धन्यवाद दिया, लाइब्रेरियन ने चौंककर उनकी ओर देखा और कहा- 'बट वाट अबाउट बिस्कुट्स?'

सत्यार्थी जी ने कहा- 'बिस्कुट तो मुझे मिले नहीं।'

तब यह राज खुला कि चपरासी को चाय और बिस्कुट के लिए पैसे दिए गए थे, पर बिस्कुट वह खुद खा जाता था और चाय सत्यार्थी जी के लिए भिजवा देता था!

कहते-कहते सत्यार्थी जी हँसते हैं। फिर बोले- 'बाद में मनु जी, यह राज भी खुला—और यह बात भी मुझे लाइब्रेरियन ने ही बताई कि चाय-बिस्कुट के ये पैसे तो रामानंद बाबू के पास

से ही आते थे। लाइब्रेरियन ने कहा था कि धन्यवाद मुझे नहीं, रामानंद बाबू को दीजिए। चाय-बिस्कुट का इंतजाम उन्हीं की तरफ से है।’

यह प्रसंग सुनाने के बाद क्षण भर सुस्ताने के लिए सत्यार्थी जी रुके। फिर कहा- ‘इससे आप अंदाजा लगा सकते हैं, उस दौर के संपादक कैसे थे, वे लेखकों को जैसा मान-सम्मान देते थे और उनसे अच्छी रचना हासिल करने के लिए कितनी कोशिश करते थे।’

अलबत्ता ‘मॉडर्न रिव्यू’ में छपे सत्यार्थी जी के लेखों ने उन्हें बहुत ख्याति दी। रावलपिंडी में रहते हुए यायावर ने पठान लोकगीतों के बारे में एक लेख लिखा। यह लेख उन्होंने रामानंद बाबू को भिजवाया। उन्होंने सत्यार्थी जी के बारे में लिखी गई अपनी और गुरुदेव की कुछ सतरों के साथ इसे ‘एशिया’ मैगजीन में भेज दिया। लेख तो बाद में छपा, पर इसकी स्वीकृति का पत्र आने के साथ ही उन्हें डेढ़ सौ डालर एडवांस पारिश्रमिक के रूप में मिल गए। फिर तो और भी कई पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी में लिखे गए उनके लेख छपे। न्यूयार्क से निकलने वाली ‘एशिया’ पत्रिका की उस समय खूब धाक थी। उसमें छपना किसी भी लेखक के लिए सम्मान की बात थी। ‘एशिया’ मैगजीन में सत्यार्थी जी के कई लेख बड़े सम्मान के साथ छपे। पख्तून लोकगीतों वाले लेख के बाद फिर ‘एशिया’ में ही फैजपुर में सन् 1936 में हुए कांग्रेस के अधिवेशन के बारे में सत्यार्थी जी का लेख छपा, जिसका शीर्षक उन्होंने लगाया था- ‘कांग्रेस गोज टु ए विलेज’।

3

हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी की तरह सत्यार्थी जी ने पंजाबी में भी विपुल साहित्य लिखा। उनकी ‘गिद्धा’ पंजाबी लोकगीतों पर शाहकार किताब मानी जाती है। पर उनका पंजाबी में लिखना अपेक्षाकृत बाद में शुरू हुआ। और आश्चर्य, इसका श्रेय गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर को है।

गुरुदेव ने सत्यार्थी जी से कहा था- ‘तुम्हें अपनी मातृभाषा नहीं छोड़नी चाहिए थी। तुम चाहे जिस भी भाषा में लिखो। लेकिन जो सुख और तृप्ति तुम्हें अपनी मातृभाषा में लिखकर मिल सकती है, वह किसी और भाषा में नहीं मिल सकती।’

तब सत्यार्थी जी ने कोशिश की कि वे पंजाबी में भी लिखना शुरू करें। हालांकि उस समय सत्यार्थी जी की मुश्किल यह थी कि वे पंजाबी खूब बोल लेते थे, समझ लेते थे, लेकिन पंजाबी लिखना उन्हें बिल्कुल नहीं आता था। यानी गुरुमुखी लिपि की मुसीबत थी। इसलिए सत्यार्थी जी अपने लेखों का पंजाबी में अनुवाद तो कर लेते, लेकिन लिखते थे देवनागरी लिपि में ही।

कोलकाता के ही भवानीपुर में सत्यार्थी जी कुछ समय के लिए रहे। यहीं पंजाबी की एक पत्रिका उन दिनों निकलती थी, ‘देशदर्पण’। पत्रिका के संपादक निरंजन सिंह तालिब ने एक बार सत्यार्थी जी से लोकगीतों पर लेख माँगा। इस पर सत्यार्थी जी ने कहा- ‘लेख तो मेरे पास है, उसे मैं बोल-बोलकर सुना सकता हूँ। पर उसे गुरुमुखी लिपि में लिखने का जिम्मा आपको लेना पड़ेगा।’

वे तैयार हो गए और दिन तय हो गया। सत्यार्थी जी अपना लेख लेकर उनके पास गए और सुनाने लगे। दो-तीन वाक्य लिखने के बाद उन्होंने यह अनुरोध किया कि अगर उनकी पंजाबी में कोई कमी रह गई हो, तो वे उसे दुरुस्त कर लें। पर सत्यार्थी जी की बात पूरी होते ही कमरे में न जाने कहाँ से एक आवाज आई- ‘नई ओए, जो ए लिखा रेया ऐ, सही लिखा रेया ए। इन्नू बिगाड़ीं नां। इक वी शबद बदलने दी लोड़ नई ए।’

सत्यार्थी जी हैरान। आवाज कहाँ से आ रही है और जिसकी आवाज है, वह दिखाई क्यों नहीं पड़ रहा? खैर, उन्होंने आगे लिखवाना शुरू किया। जब आधा लेख हो गया तो उन्होंने विनम्रतावश एक बार फिर अनुरोध किया- ‘मेरी पंजाबी में कोई कमी हो तो आप दुरुस्त करते जाँएँ।’

और सत्यार्थी जी का वाक्य पूरा होते ही फिर वही आवाज, ‘नई ओए, इक शबद वी बदलने दी लोड़ नई ए। एह तेरे तों सोहणीं पंजाबी जाणदा ए, इस नूं बिगाड़ ना देईं।’

अब तो सत्यार्थी जी सचमुच हक्के-बक्के थे। यह आवाज कहाँ से आ रही है? माजरा क्या है? खैर, उन्होंने पूरा लेख लिखवा दिया। और ज्यों ही लेख पूरा हुआ, फिर वही आवाज आई- ‘ओए, सारी खिड़कियाँ ते बूए बंद करा दे।’

खिड़कियाँ-दरवाजे बंद हो गए। कमरे में एकदम अंधेरा

और सत्राटा। इतने में उस हॉल टाइप कमरे में गेहूँ की बोरियों के पीछे से एक आदमी नमूदार हुआ और उसने सत्यार्थी जी को बाँहों में भर लिया। कहा- 'मैंने एक-एक शब्द सुना है, बहुत अच्छा लेख है। आपकी भाषा बड़ी जानदार है।'

मालूम पड़ा कि वे मशहूर समाजवादी चिंतक काबुलसिंह गोविंदपुरी हैं, जो अपने जादुई भाषणों से जनता में जोश पैदा करते हैं। वे उन दिनों अंडरग्राउंड चल रहे थे और पुलिस से बचने के लिए वहाँ छिपे हुए थे। बाद में खिड़की-दरवाजे खुले और सत्यार्थी जी बाहर आ गए। फिर तो उनके पंजाबी लेखन के भी खिड़की-दरवाजे एक-एक कर खुलते चले गए। यही लेख बाद में ज्यों का त्यों सत्यार्थी जी के फोटो सहित अमृतसर से निकलने वाली 'प्रीतलड़ी' में छपा, बड़े भव्य रूप में।

'और इसके साथ ही मैं पंजाबी का लेखक मान लिया गया।' सत्यार्थी जी बता रहे थे- 'इस लेख की भरपूर तारीफ हुई तो मुझसे और लेख भी माँगे गए। मैंने हिंदी में लिखे गए अपने कई लेखों का पंजाबी अनुवाद कर-कर के दिए और उसके बाद न जाने कब पंजाबी में मौलिक लेखन का सिलसिला शुरू हो गया। यहाँ तक कि आपको हैरानी होगी, मेरी पहली किताब पंजाबी में ही छपी थी।'

'क्या 'गिद्धा'...?' मैंने पूछा।

'जी हाँ, ठीक कहा आपने— 'गिद्धा'! यह लोक साहित्य को लेकर मेरी पहली किताब है।' सत्यार्थी जी ने बताया- 'बल्कि आप कह सकते हैं, किसी भी भाषा में यह मेरी पहली किताब थी। यह सन् 1936 की बात होगी। प्रो. तेजासिंह ने इस पर एक चालीस पेज लंबी भूमिका लिखी थी। गुरुबख्श सिंह का एक लेख भी था इसमें, जिसमें मेरी यात्राओं और काम के बारे में तफसील से बताया गया था। पंजाबी साहित्य में इस किताब को बहुत प्रसिद्धि मिली। इसके आज तक न जाने कितने संस्करण हो चुके हैं और पंजाबी में यह आज भी उतनी ही लोकप्रिय है, जितनी 1936 में थी। एक तरह से पंजाबी फोकलोर में यह 'लैंडमार्क' समझी जाती है!'

यों 'गिद्धा' के छपने की भी एक कहानी है। हुआ यह कि 'एशिया' पत्रिका में छपे लेख का पारिश्रमिक के रूप में सत्यार्थी

जी को डेढ़ सौ डालर मिले। और उस समय के हिसाब से डेढ़ सौ डॉलर का मतलब था, पाँच सौ रुपए। पर सत्यार्थी जी ने इसे घर के कामों में लगाने की बजाय अपनी किताब छपवाने में खर्च कर डाला। और वह किताब थी- 'गिद्धा'। सत्यार्थी जी के लिए इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि तो यही है कि इसी पुस्तक के प्रकाशन के दौरान उन्होंने गुरुमुखी लिपि को लिखना-पढ़ना सीखा।

'तो फिर 'गिद्धा' किताब जैसे लिखी गई। किसी और का अनुवाद था क्या?' मैंने पूछा।

'न...न!' सत्यार्थी जी ने कहा। और फिर अमोल साहब का प्रसंग चल पड़ा।

अमोल साहब ने सत्यार्थी जी को अमृतसर में लोक साहित्य के बारे में पाँच व्याख्यान देने के लिए बुलाया। इनमें चार व्याख्यान तो उन्होंने मुँहजुबानी दिए, पाँचवाँ लिखा हुआ लेख पढ़ा। यह जो लिखा हुआ लेख था, बाद में सत्यार्थी जी ने इसी को थोड़ा और बढ़ाया। अंततः यही लेख पंजाबी में अनूदित हुआ और 'गिद्धा' किताब की शकल में सामने आया और खूब पसंद किया गया।

इसी तरह सत्यार्थी जी का और भी बहुत सा पंजाबी का काम है जिसे वहाँ अलग ढंग से रेखांकित किया गया। उनका उपन्यास 'घोड़ा बादशाह' पहले पंजाबी में ही छपा था और उसने वहाँ खासा तूफान ला दिया था। यह बड़ा प्रयोगशील उपन्यास था, इसलिए पंजाबी में पहले इसे थोड़ी शंका और कौतुक के साथ देखा गया। पर आज लोग बड़े आदर और सम्मान से उसकी चर्चा करते हैं। एक आश्चर्य की बात यह है कि पंजाबी साहित्य में सत्यार्थी जी की छवि भारतीय लोक संस्कृति के अनुसंधानकर्ता, परंपरावादी लेखक की है तो साथ ही परंपरा को तोड़कर एक नया आधुनिकतावादी रुझान पैदा करने वाले लेखक के रूप में भी। हालांकि सत्यार्थी जी के बाद के लेखन को लेकर पंजाबी साहित्य में बहसें अभी तक जारी हैं।

'और वे क्यों न हों?' सत्यार्थी जी पूरे आत्मविश्वास के साथ बता रहे थे- 'किसी भी सच्चे लेखक को उनसे डरना नहीं चाहिए, क्योंकि आखिर लीक पीटना ही तो साहित्य नहीं है। एक लेखक के रूप में हम बदलते हुए समय की गूँजों को अनसुना नहीं कर सकते।'

‘और लोक परंपरा भी यह नहीं है।’ वे मुसकराते हुए बता रहे थे, ‘लोक परंपराएँ भी समय के साथ बदलती और हर घड़ी खुद को पुनर्नवा करती चलती हैं।’

फिर बातों-बातों में उन्होंने ‘समकालीनता’ की परख का सूत्र-वाक्य मुझको पकड़ा दिया, ‘मेरा तो यह जीवन-मंत्र ही है मनु जी, कि अगर आप अपने समय के साथ नहीं हैं तो सब कुछ बेकार है। इसीलिए मैंने अपने आपको कभी बूढ़ा नहीं समझा! बल्कि सच पूछिए तो, मेरे सहयात्री तो वो हैं जो बिल्कुल अभी-अभी आए हैं या आने वाले हैं। यहाँ तक कि एक बच्चे को गुरु मानने में भी मुझे कोई शर्म नहीं!’

कहते-कहते एक अजब-सी, अबूझ चमक उनकी आँखों में कौंध उठी थी! एक लेखक—सच्चे और निर्मल भावों वाले लेखक की सचाई और खुदारी की चमक!

4

सत्यार्थी जी ने अलग-अलग भाषाओं के कोई तीन लाख से ज्यादा लोकगीत इकट्ठे किए, पर इनमें सभी समान महत्त्व के तो न होंगे। निश्चित रूप से उन्हें कुछ अधिक प्रिय होंगे और अधिक मोहते होंगे। उन्हें भला वे कैसे अलगाते हैं और उनकी क्या खासियतें उनके दिमाग में रहती हैं? यह जानने के लिए एक बार मैंने आग्रह किया— ‘सत्यार्थी जी, अपनी लोकगीत यात्रा में से कुछ गीत जो आपको खासकर पसंद हों, सुनाइए।’

सुनकर उनके चेहरे पर बड़ी अनोखी चमक आई। आँखों में मुलायमियत। बोले— ‘सबसे पहले तो वह गीत सुनिए जो महात्मा गाँधी को बहुत पसंद था।’ और फिर तीन पंक्तियों का एक छोटा-सा गीत सामने आया—

रब्ब मोया,  
देवता भज्ज गए,  
राज फिरंगियाँ दा!

फिर वे बताते हैं कि सन् 1936 में कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में उन्होंने महात्मा गाँधी को यह लोकगीत सुनाया तो वे फड़क उठे थे। उन्होंने कहा— ‘अगर एक पलड़े में मेरे और जवाहरलाल नेहरू के सारे भाषण रख दिए जाएँ और दूसरे पलड़े

में यह अकेला लोकगीत तो लोकगीत वाला पलड़ा ही भारी रहेगा। इसीलिए कि इसमें देश की समूची जनता का दर्द बोल रहा है।’

ऐसे ही उस दौर के बहुतेरे लोकगीत हैं जो लीक से बहुत हटकर हैं और जिनमें उस समय के राजनीतिक-सामाजिक संदर्भ खूब जमकर आए हैं। नेहरू, सुभाष को लेकर भी एक से एक बढ़िया लोकगीत रचे गए, जिनसे जनता की सच्ची भावना पता चलती है। बंगाल के अकाल पर भी लोकगीत रचे गए। यहाँ तक कि एक बांग्ला लोरी में भी इस तरह के दुर्दिन के चित्र चले आए कि—

खोका धुकालो, पाड़ा जुड़ालो  
बरगी एलो देश,  
बुलबुलीते धान खाए छे  
खाजना दिबो किशे?

(अर्थात्, शिशु सो गया, मुहल्ला खामोश हो गया, देश में बरगी अर्थात् आक्रमणकारी आ गए, बुलबुलों ने धान खा लिया।)

गीत सुनाकर उसकी करुण भावना में बहते हुए सत्यार्थी जी बता रहे थे— ‘आप देखिए, कितनी बड़ी चोट के बाद यह लोकगीत पैदा हुआ होगा। है तो एक लोरी ही, पर पूरे समाज का दर्द इसमें बह रहा है। ऐसे ही एक मिर्जापुरी कजरी की धुन आप देखिए, क्या ही कमाल की है, ‘एक ठो रही अबाबील/ ऊ तो करने चली अपनी/ घंटाघर के सामने...!’ इसकी लय का जादू अपने ही ढंग से बाँधता है। और इसमें जो एक ‘नाटक’ है, यानी नाटकीय कौतुक है, वह अनोखा है। लोकगीत है, मगर लोककथा का रस भी साथ ही साथ चला आता है। ऐसे गीत पूरे के पूरे समाज का चेहरा सामने लाकर रख देते हैं।’

सच तो यह है कि इन लोकगीतों में इतनी विविधता है, भाषा ही नहीं, लय को लेकर भी कि चमत्कृत रह जाना पड़ता है। देश की सांस्कृतिक एकता के लिए ये लोकगीत एक पुल की तरह हैं। पश्चिम के एक समाजशास्त्री का कहना है— ‘तुम मुझे किसी कबीले के लोकगीत दो, मैं उसका पूरा संविधान तैयार करके दे दूँगा।’ ऐसे ही मर्मस्पर्शी लोकगीतों को देखकर शायद यह बात कही गई होगी।

इन लोकगीतों से जुड़ा एक और विलक्षण प्रसंग, सत्यार्थी जी की जीवन-कथा का! जिन दिनों देश आजाद हुआ, उन्हीं दिनों की बात है। उन दिनों रेडियो के डायरेक्टर जनरल अहमद शाह बुखारी पितरस ने सत्यार्थी जी को बुलाया और यह प्रस्ताव उनके सामने रखा कि आपने जिन लोकगीतों का संग्रह किया है, उनमें से अलग-अलग बोलियों और भाषाओं के एक हजार सर्वश्रेष्ठ लोकगीत हमें चुनकर दे दें। हम रेडियो पर उनका प्रसारण करेंगे और आपको कॉपीराइट के रूप में उसका पारिश्रमिक मिलता रहेगा।

इस पर सत्यार्थी जी ने कहा- 'लोकगीत आपको जितने चाहिए, ले लें। पर उनका पारिश्रमिक मैं नहीं ले सकता, इसलिए कि ये गाँव वालों की चीजें हैं। इन पर कॉपीराइट मेरा नहीं, भारत माता का है!'

सुनकर पितरस चकित रह गए थे। और सत्यार्थी जी ने सचमुच विभिन्न भाषाओं के एक हजार लोकगीत उन्हें चुनकर दिए, जिनका रेडियो से प्रसारण हुआ तो लोक साहित्य के प्रति लोगों की ललक बढ़ी और 'लोकगीत' शब्द एकाएक लोगों की जुबान पर आ गया।

अलबत्ता बाद में लोकगीतों का पारिश्रमिक न लेने वाली घटना तमाम लोगों को पता चली तो उन्होंने सत्यार्थी जी का खूब मजाक उड़ाया। इसी को लेकर मंटो ने सत्यार्थी जी को 'फ्रॉड' कहा था, क्योंकि वह यह कल्पना कर ही नहीं सकता कि कोई आदमी 'आदर्शवाद' के चक्र में हाथ में आया पैसा भी तुकरा सकता है!

सत्यार्थी जी जिन लोकगीतों की मार्मिकता से अभिभूत हुए, उनमें 'दीवा बले सारी रात' भी है, जिस पर उन्होंने पूरा एक लेख ही लिख दिया। पहली बार ससुराल में उन्होंने यह गीत सुना था, जिसे दुलहन की सहेलियाँ गा रही थीं। और वे इसे एक बार फिर से सुनने के लिए तड़प उठे। हालाँकि ये गीत बरसों बाद ही उन्हें सुनने को मिल सका और सुनकर एक बार फिर उनके मन की यही हालत हुई। सचमुच वियोगिन स्त्री के दर्द की इससे सुंदर अभिव्यक्ति भला और क्या हो सकती है—

*दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा,*

*दीवा बले सारी रात।*

*बत्तियाँ बटा रखदी, मेरया जाल्मा,*

*दीवा बले सारी रात।*

*आवेँगा तौ पुच्छ लवाँगी, मेरया जाल्मा,*

*कित्थे गुजारी सारा रात।*

*बत्तियाँ बटा रख दी, मेरया जाल्मा,*

*दीवा बले सारी रात।*

*आवेँगा तौ बुज्झ लवाँगी, मेरया जाल्मा,*

*कित्थे गुजारी सारी रात।*

*दीवा बले सारी रात, मेरया जाल्मा,*

*दीवा बले सारी रात।*

(अर्थात्, दीया रात भर जलता है, ओ मेरे जालिम! दीया रात भर जलता है। बत्तियाँ तैयार करवा रखती हूँ, ओ मेरे जालिम! दीवा सारी रात जलता है। तू आएगा तो मैं पूछ लूँगी, ओ मेरे जालिम! कहाँ बिताई सारी रात? बत्तियाँ तैयार करवा रखती हूँ, ओ मेरे जालिम! दीया सारी रात जलता है। तू आएगा तो मैं समझ जाऊँगी, ओ मेरे जालिम! कहाँ बिताई सारी रात? दीया रात भर जलता है, ओ मेरे जालिम! दीया रात भर जलता रहता है।)

5

ऐसे लोकगीतों की तलाश और उनकी सच्ची भावना की पहचान, उनकी 'पुकार' को थाहना और उनमें छिपे धरती के दर्द को महसूस करना किसी बड़े भाषा-विज्ञानी या विद्वान के बस की बात नहीं थी। इसे तो सत्यार्थी जी सरीखे सहृदय और जनता के दर्द से जुड़े भावुक लोकयात्री ही समझ सकते थे। और यह काम उन्होंने अथाह कष्ट उठाकर दर-दर की ठोकें खाते हुए पूरे समर्पण और निष्ठा से किया।

प्रभाकर माचवे ने बड़े सही लफ्जों में इस बात की ओर इशारा किया है कि सत्यार्थी जी के लोक साहित्य के काम ने पूरे देश में लोक साहित्य के लिए जैसे एक आंदोलन ही खड़ा कर दिया था—

'रवींद्रनाथ ठाकुर उनकी लगन और प्रतिभा से आतंकित हुए। गाँधी जी ने कहा कि इतने हजार गीत और एक आदमी घूम-घूमकर कैसे जमा करता है, आश्चर्य है! गाँधी अफ्रीका से

भारत आए। शांतिनिकेतन में सी.एफ. एंड्रयूज के साथ रहे। उन्होंने 1917 में गुजरात साहित्य परिषद में पुकार की- 'लेखक गाँवों में क्यों नहीं जाते?' देखते-देखते रामनरेश त्रिपाठी ने सुल्तानपुर से चलकर सारे उत्तर प्रदेश के ग्राम्य-साहित्य में अपने आपको डुबो लिया, झबेरचंद मेघाणी गुजराती में, साने गुरुजी महाराष्ट्र में, 'किन्नर' के संपादक तेलुगु में, सबके सब देवेंद्र सत्यार्थी की पहली पुस्तक 'मैं हूँ खानाबदोश' की तरह निर्वासित बनकर गाँव-गाँव घूमने लगे। अपनी खोई हुई लोकगीत, लोककथा, लोकनाट्य-निधि को जमा करने लगे। 'मीट माई पीपल' देवेंद्र सत्यार्थी की पहली अंग्रेजी किताब थी, जिसने बहुत बड़ा काम इस दिशा में किया। उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।'

देवेंद्र सत्यार्थी ने रात-दिन गाँव-गाँव में घूमकर न सिर्फ अलग-अलग भाषाओं के तीन लाख से अधिक लोकगीतों को एकत्र किया, बल्कि अपने पसीने और ताप के ताएँ दिनों से लोकगीतों की महान जयगाथा भी लिखी, जिसने हर किसी का ध्यान खींचा। देखते ही देखते, लोकगीत 'जनता की वाणी' और राष्ट्रदेवता का मंगलगान बनकर स्वाधीनता की लड़ाई लड़ने के लिए उठ खड़े हुए। इस लड़ाई के महानायक के रूप में देवेंद्र सत्यार्थी का नाम इतिहास के पन्नों में हमेशा सम्मान और कृतज्ञता का साथ लिया जाएगा।

## एक देदीप्यमान नक्षत्र : रायबहादुर हीरालाल

ओम मालवीय

मध्यप्रदेश की धरती ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में अनेक विभूतियों को जन्म दिया है। इन अनेक विभूतियों में राय बहादुर डॉ. हीरालाल का एक अलग ही गौरव और गरिमापूर्ण स्थान है। यह इसलिए कि ऐसा कोई भी अन्य विद्वान दृष्टिगोचर नहीं होता जिसने ज्ञान की अनेक विधाओं का न केवल स्पर्श किया वरन् उन क्षेत्रों में एक अधिकारपूर्ण स्थान भी प्राप्त किया। संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व, शिलालेख अन्वेषण, लोकभाषा, नृत्य शास्त्र, साहित्य और प्रशासन सरीखी ज्ञान की अनेक विधाएँ थीं, जिसमें राय बहादुर डॉ. हीरालाल ने अधिकारपूर्वक प्रवेश किया और इन सभी क्षेत्रों में वे एक गरिमामय स्थान पर प्रतिष्ठित हुए।

समाज, राष्ट्र और संस्कृति को समर्पित मध्यप्रदेश में पुरातत्त्व जगत के भीष्म पितामह राय बहादुर डॉ. हीरालाल का जन्म 1 अक्टूबर 1867 को जबलपुर जिले की कटनी (मुड़वारा) तहसील में हुआ। उनके पूर्वज कटनी, वर्तमान में कटनी पृथक जिला है, के निकट बिलहरी ग्राम के निवासी थे और यहाँ वे उत्तर प्रदेश से आये थे। 9 वर्ष की आयु में उन्होंने स्कूल में प्रवेश किया और एक अत्यंत प्रतिभाशाली छात्र के रूप में ख्याति अर्जित कर जबलपुर के महाविद्यालय में पदार्पण किया जहाँ अपने पूरे छात्र जीवन में वे गुणवत्ता की छात्रवृत्ति पाते रहे और वहाँ से 21 वर्ष की आयु में सन् 1888 में उन्होंने विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् वे अपनी पुरानी उच्चतर माध्यमिक शाला में शिक्षक नियुक्त हुए और उसके बाद तत्कालीन प्रांत के उत्तरी जिलों के लिए वे विज्ञान के प्रशिक्षक बने। 17 जनवरी, 1891 को उन्हें सागर जिले में स्कूल उप निरीक्षक नियुक्त किया गया और इस पद का कार्यभार उन्होंने लगातार 5 वर्षों तक सम्भाला। यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा के इतिहास के उस काल में भी डॉ. हीरालाल ने सहशिक्षा प्रारम्भ की

और सबसे उपेक्षित वर्ग के लिए विशेष रूप से शिक्षा प्रारम्भ की। उनकी योजना शारीरिक रूप से विकलांग विशेषकर गूंगे और बहरे बच्चों के लिए एक अलग शैक्षणिक संस्था प्रारम्भ करने की भी थी, पर इसके पूर्व कि वे योजना को क्रियान्वित कर पाते, तत्कालीन अंग्रेज प्रशासन का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ और वे एक अन्य क्षेत्र में कार्य करने के लिये विशेष रूप से नियुक्त किये गये।

सम्भवतः अभी तक के प्रशासनिक इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ किसी स्कूल उप निरीक्षक को प्रशासन के क्षेत्र में ऐसा उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य सौंपा जाय, जैसा कि तत्कालीन ब्रिटिश शासन ने हीरालाल जी को सौंपा। वर्ष 1896-1899 तत्कालीन मध्य प्रांत के लिए बहुत कठिन समय था, क्योंकि इस अवधि में प्रांत के अनेक क्षेत्रों में भयंकर दुर्भिक्ष का प्रकोप छा गया था। वर्ष 1897 में हीरालाल जी को स्कूल शिक्षा के क्षेत्र में 'एजेन्सी इंस्पेक्टर' बनाकर छत्तीसगढ़ स्थानान्तरित किया गया। इस पद पर कार्य करते हुए उन्होंने पिछड़े और पहुँच विहीन क्षेत्रों में शालाएँ खोली। ऐसे क्षेत्रों की ओर सामान्यतः प्रशासन का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ था और यह हीरालाल जी की जीवटता और कर्मठता ही थी, जिसके कारण वे इस दुरूह कार्य को करने में सफल हो सके थे। ऐसी शालाएँ उन्होंने तत्कालीन रियासतों में भी खोलीं जहाँ सामान्य रूप से शिक्षा का क्षेत्र उपेक्षित रहता था।

श्री हीरालाल की कर्तव्यनिष्ठा, कर्मठता, लगन और जीवटता से तत्कालीन ब्रिटिश शासन अत्यंत प्रभावित था और यही कारण था कि उन्हें शिक्षा के कार्य के साथ-साथ अकाल राहत अधिकारी भी नियुक्त किया गया। 1899 में बालाघाट जिला प्रांत का सबसे अधिक अकाल प्रभावित क्षेत्र था और अकाल राहत सरीखे अत्यंत कठिन कार्य के कुशल सम्पादन के लिए तत्कालीन प्रशासन ने विशेष रूप से श्री हीरालाल का चयन किया। उन्हें अतिरिक्त सहायक आयुक्त का पद देकर बालाघाट में पदस्थ किया गया। इतिहास का विषय है कि श्री हीरालाल ने इस अत्यंत कठिन और संकटकालीन कार्य का अत्यंत कुशलतापूर्वक निर्वहन किया।

भारत की चौथी जनगणना 1901 में होने वाली थी और

ज्ञान और प्रशासन के इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए वर्ष 1900 में श्री हीरालाल का चयन किया गया और वे रायपुर में पदस्थ हुए। केवल 3 माह की अवधि में उन्होंने जो प्रशंसनीय उपलब्धि प्राप्त की उसके कारण श्री आर.व्ही. रसेल, जनगणना निदेशक, मध्य प्रांत, ने भारत शासन से यह विशेष अनुरोध किया कि श्री हीरालाल की सेवाएँ भारत की जनगणना के लिए प्राप्त की जाए। श्री रसेल का यह अनुरोध स्वीकार हुआ और श्री हीरालाल ने 1900 में भारत की जनगणना के क्षेत्र में प्रवेश कर सन् 1901 की जनगणना में सहायक निदेशक के रूप में अत्यन्त उल्लेखनीय और सफल कार्य किया। जनगणना का कार्य समाप्त होने के बाद सन् 1903 में उन्हें विशेष कर्तव्य देकर नागपुर पदस्थ किया गया, जहाँ उस समय जिला गजेटियर्स के सम्पादन का कार्य चल रहा था। श्री हीरालाल ने मध्य प्रांत के जिला गजेटियर्स का कार्य सक्षमता और सफलतापूर्वक सम्पादित किया और 1910 में मध्यप्रांत के सारे गजेटियर्स के प्रकाशन का कार्य पूर्ण किया। इस क्षेत्र में उनकी इस प्रशंसनीय और उल्लेखनीय सेवाओं के लिए तत्कालीन प्रशासन ने उन्हें 'राय बहादुर' की उपाधि प्रदान की।

इस उत्तरदायित्वपूर्ण और विद्वतापूर्ण कार्य के सफल सम्पादन के बाद रायबहादुर डॉ. हीरालाल की नियुक्ति अतिरिक्त सहायक आयुक्त के रूप में जबलपुर में की गई, परन्तु वे यहाँ बहुत अल्पकाल तक ही रह पाये, क्योंकि तब तक भारत की पाँचवीं जनगणना 1911, का कार्य प्रारम्भ हो चुका था और उनसे पुनः जनगणना के अत्यन्त दुरूह और कठिन कार्य को वहन करने का अनुरोध किया गया। 1911 की जनगणना में भी राय बहादुर डॉ. हीरालाल ने अत्यंत कुशलतापूर्वक कार्य किया और उसे पूर्ण कर सन् 1913 में वे पुनः अतिरिक्त सहायक आयुक्त के पद पर लौटे।

यह समय रायबहादुर हीरालाल के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के लिए एक कठिन और परीक्षा की घड़ी थी। उनके पुत्र केदारनाथ राय, जो उस समय इंग्लैंड में वकालत की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, का सन् 1912 में राजयक्ष्मा से देहावसान हो गया और इसके बाद उनके पिता और पुत्री ग्रसित होकर कालकवलित हुए। स्वयं राय बहादुर हीरालाल भी हैजा से प्रभावित हुए थे और बड़ी कठिनाई से उनका जीवन बचाया जा सका। तत्कालीन शासन ने उन्हें 6 माह का अवकाश दिया, पर इस



अवकाश में भी वे शांत नहीं बैठे और इस अवधि में उन्होंने सम्पूर्ण दक्षिण भारत और श्रीलंका की अध्ययन यात्रा की।

अवकाश से लौटने के बाद राय बहादुर हीरालाल को मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व और इतिहास पर कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया। प्रशासन के क्षेत्र में कार्य करने वाले किसी अधिकारी के लिए यह सदा ही एक गौरव का विषय रहेगा कि उसे ज्ञान के ऐसे क्षेत्र में कार्य के लिए नियुक्त किया जाय। ऐसी नियुक्ति उनकी उस विद्वता और ज्ञान का परिचायक है, जिसने तत्कालीन ब्रिटिश प्रशासन को स्तंभित कर दिया था। इस पद पर कार्यरत रहते हुए रायबहादुर हीरालाल ने सन् 1914 में 'मध्य प्रांत और बरार के शिलालेख' नामक पुस्तक लिखी, जो अभी भी इस क्षेत्र की एक प्रामाणिक कृति मानी जाती है। 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' के सम्पादन तथा भारतीय पुरातत्त्व तथा सर्वेक्षण के महानिदेशक ने इस पुस्तक को श्रेष्ठ ग्रंथ घोषित किया था। प्रो. बरनेट के मतानुसार- 'यह एक सुयोग्य एपिग्राफिस्ट द्वारा रचित अमूल्य ग्रंथ है।' यद्यपि 1901 की जनगणना के बाद रायबहादुर हीरालाल विभिन्न कर्तव्य क्षेत्रों में कार्य करते रहे, किन्तु सन् 1901 की जनगणना से श्री आर.व्ही. रसेल से उनके जो सम्बन्ध स्थापित हुए थे, वे कायम रहे और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रवेश के अलावा श्री रसेल के साथ वे मध्य प्रांत और बरार के विभिन्न समुदायों और उप समुदायों, जातियों और उप जातियों पर लगातार नृतत्त्व शास्त्रीय और समाज शास्त्रीय अध्ययन करते रहे। इस अध्ययन का प्रतिफल 1908 में 'एथनोग्राफिक नोट्स' के अनेक खण्डों के रूप में प्रकाशित हुए जो बाद में सन् 1916 में 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ दि सेण्ट्रल प्रॉविन्सेज ऑफ इंडिया' के 4 खण्डों के रूप में प्रकाशित हुए। आज भी ये 4 खण्डों का संकलन इस प्रदेश की समस्त जातियों, उप जातियों, समुदायों और उप समुदायों के बारे में अधिकारी ग्रंथ माना जाता है। इस संकलन के बारे में सुप्रसिद्ध समालोचक हैरी जान्स्टन ने 22 अप्रैल 1916 में 'वेस्ट मिनिस्टर्स गजट' में लिखा था कि 'जाति विषयक पुस्तकों में इसके समतुल्य' पुस्तक लिखी ही नहीं गई। यदि यह ग्रंथ फ्रांस में लिखा गया होता तो इसके लेखक को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया जाता।' सम्भवतः आज तक पूरे प्रदेश के लिए ऐसे ग्रंथ संकलित करने का साहस किसी भी विद्वान में नहीं हुआ है।

23 जून, 1913 को राय बहादुर हीरालाल, अतिरिक्त सहायक

आयुक्त के पद पर छिंदवाड़ा पदस्थ हुए और वर्ष भर बाद वे इसी पद पर दमोह जिले में स्थानान्तरित किये गये। 22 जून, 1917 को उन्होंने दमोह के डिप्टी कमिश्नर का पदभार सम्हाला। उस काल में डिप्टी कमिश्नर के पद पर भारतीयों की नियुक्ति सामान्यतः नहीं की जाती थी। अतएव, इस पद पर उनकी नियुक्ति अपने आप में राय बहादुर हीरालाल के प्रशासन के क्षेत्र में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्ति का प्रमाण है। दमोह में कार्य करते हुए उन्होंने वर्ष 1918 की इन्फ्लूएंजा महामारी का अत्यंत सफलतापूर्वक सामना किया। इसके बावजूद इसी समय उन्होंने मध्यप्रदेश की भाषाओं और बोलियों का सर्वेक्षण किया और विशेष रूप से आदिवासी समाज की विभिन्न बोलियों के ग्रामोफोन रिकार्ड तैयार किये, जिन्हें रायबहादुर डॉ. हीरालाल की सुयोग्य पौत्री डॉ. छाया राय ने भोपाल स्थित माधवराव सप्रे संग्रहालय एवं शोध संस्थान को भेंट कर दिए हैं। 1919 में वे डिप्टी कमिश्नर के पद पर वर्धा में पदस्थ हुए। लगभग इसी समय उन्हें डिप्टी कमिश्नर के पद पर स्थायी किया गया और नरसिंहपुर जिले में पदस्थ किया गया। अक्टूबर 1922 को 35 वर्षों की अत्यन्त सराहनीय सेवाओं के बाद उन्होंने शासकीय सेवा से निवृत्ति ली और अपने पैतृक निवास कटनी (मुड़वारा) स्थित रायबाड़ा में निवास करने लगे। यह उल्लेखनीय है कि प्रशासकीय सेवा में रहते हुए उन्हें 31 प्रशंसा पत्र शासन द्वारा प्रदान किये गये, जो उनके कार्य-नैपुण्य के पर्याप्त प्रमाण हैं।

भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के प्रकाण्ड पंडित डॉ. हीरानंद शास्त्री, डी.लिट्. ने लिखा है कि शासकीय सेवा से निवृत्त होने के बाद भी राय बहादुर हीरालाल शांत नहीं बैठे। इसके विपरीत ज्ञान के क्षेत्र में उनका कार्य और विस्तृत और घनीभूत होता गया। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची संकलित की और लगभग 10,000 ऐसी पाण्डुलिपियों की खोज की, जिनके बारे में उस समय तक किसी को कोई ज्ञान नहीं था। ज्ञान के क्षेत्र में उनकी यह सेवा चिरस्मरणीय रहेगी, क्योंकि इससे भारत के इतिहास के कुछ अज्ञात क्षेत्रों पर प्रकाश पड़ता है और विशेष कर यह प्रकाश जैन धर्म, जैन अपभ्रंश और जैन संस्कृति पर परिलक्षित होता है। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए उनका यह कार्य अतुलनीय है।

नागपुर विश्वविद्यालय के जन्म से ही राय बहादुर हीरालाल

उससे बहुत निकटता से सम्बद्ध रहे और उनका यह सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त कायम रहा। वे इस विश्वविद्यालय के हिन्दी साहित्य परिषद् के सूत्रधार थे और स्नातक और स्नातकोत्तर उपाधियों के लिये हिन्दी विषय को प्रारम्भ कराने में उनका विशेष योगदान था। उल्लेखनीय है कि रायबहादुर हीरालाल उस समय से ही जबलपुर में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे, पर वित्तीय कठिनाईयों के कारण उनका यह प्रयास उस समय सफल नहीं हो पाया था। यह सर्वथा उचित होगा यदि अब, जब जबलपुर में विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका है, हम सब रायबहादुर हीरालाल के उन प्रयासों का श्रद्धावन्त होकर गुणगान करें। 13 अप्रैल 1930 को रायबाड़ा में रायग्रंथालय की स्थापना की जो तत्समय प्रदेश का प्रमुख ग्रंथालय था, जिसकी पुस्तकें 1956 में सागर विश्वविद्यालय को दे दी गई हैं। अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में कटनी में ईश्वरदास संस्कृत पाठशाला की स्थापना की जो वर्तमान संस्कृत महाविद्यालय के रूप में मौजूद है।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि 'अन्य विषयों के विद्वान तो हीरालाल जी थे ही, किन्तु वे कलचुरि इतिहास का ऐसा ज्ञान रखते थे जैसा इस समय तक भारत में किसी को नहीं है। आगे भी उस तरह का ज्ञान कब कोई हो सकेगा, नहीं कहा जा सकता। उनकी आयु और स्वास्थ्य को देखकर हम लोगों को बहुत डर लग रहा था कि कहीं हमारे देश को इस ज्ञानराशि से वंचित न हो जाना पड़े।' श्री जयचंद्र विद्यालंकार इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'चेदि की भूमि, जातियों, बोलियों और इतिहास का जैसा ज्ञान राय बहादुर हीरालाल को था, हमारे जमाने में वैसा और कहीं नहीं है। उन्होंने अपनी उम्र उसी के अध्ययन में लगा दी थी, इसलिये उनसे मैंने प्रार्थना की थी कि वे अपने ज्ञान को पीछे आने वालों के लिये भी छोड़ जाए। मेरी प्रार्थना पर पहले तो उन्होंने कहा कि वे सब प्रकार के मेहनत के काम से निवृत्त हो चुके हैं, पर सन् 1933 में उन्होंने आखिर मेरी प्रार्थना मान ली।'

पुरातत्त्व के वे किस श्रेणी के विद्वान थे, यह केवल इसी से सिद्ध होता है कि भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने उन्हें चेदि अभिलेखों के सम्पादन का कार्यभार सौंपा था। तत्कालीन इतिहासज्ञ उन्हें 'चेदि-कीर्ति-चंद्र' भी कहा करते थे। राय बहादुर हीरालाल ने जो अनेक ग्रंथ लिखे, उनमें कुछ का उल्लेख नीचे की पंक्तियों में किया जायेगा, किन्तु इन ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने

'एपिग्राफिया इंडिका' में विभिन्न राजवंशों के शिलालेखों से सम्बन्धी अनेक शोध लेख प्रकाशित किये।

'इंडियन इन्टीक्वेरी' में उनके सर्वाधिक लेख प्रकाशित हुए। उनके विशेष लेखों में 'रामटेक का दर्शन', 'चिमूर का घोड़ा', 'बुन्देलखण्ड में त्रिमूर्ति', 'तुमान की यात्रा' और 'दक्षिण कोशल की सीमा और राजधानी' आदि लेख विशेष उल्लेखनीय हैं। 'ओरियंटल कांफ्रेंस' के संकलन में भी उनके अनेक महत्वपूर्ण शोधलेखों का उल्लेख मिलता है। इनमें दिसम्बर 1924 में आयोजित ओरियंटल कांफ्रेंस के तृतीय अधिवेशन में 'जिझौती की राजधानियाँ', 'हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' और 'सिद्ध मकरध्वज योगी' महत्वपूर्ण हैं। ओरियंटल कांफ्रेंस 1930 में आयोजित षष्ठम अधिवेशन में वे सभापति भी रहे।

भंडारकर जैसे प्राचीन विद्वान राय बहादुर हीरालाल के प्राचीन इतिहास और पांडुलिपि के क्षेत्र में इनकी खोजों से चमत्कृत थे। 'एपिग्राफिया इंडिका' में 1905 से 1932 तक जितने लेख राय बहादुर हीरालाल ने लिखे थे, उतने लेख और किसी विद्वान ने नहीं लिखे। इस महत्वपूर्ण शोध पत्रिकाओं के अतिरिक्त राय बहादुर हीरालाल के पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', 'एटलस ऑफ दी भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट' और 'रिसर्च जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी' आदि शोध पत्रिकाओं में भी निरंतर प्रकाशित होते रहे। सन् 1932 में अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन- पटना के वे अध्यक्ष मनोनीत हुए। कटनी स्थित उनका निवास इस सम्मेलनीय घटना की स्मृति आज भी दिलाता है, क्योंकि वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने अपने निवास पर 'पटना द्वार' और अन्य पुरातत्त्व मूर्तियों को जबलपुर स्थित रानी दुर्गावती पुरातत्त्व संग्रहालय को भेंट कर दी, जिनसे संग्रहालय परिसर में 'पटना द्वार' बनाया गया है। ब्रह्मा की एक मूर्ति को रायबहादुर डॉ. हीरालाल ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय हेतु महामना पंडित मदन मोहन मालवीय को भेंट की। जो वहाँ 'कला मंदिर' द्वार की शोभा है। सन् 1926 में अपने प्रिय छोटे भाई श्री गोकुलप्रसाद, इन्कम टैक्स असिस्टेंट कमिश्नर के देहान्त हो जाने पर उनकी स्मृति स्वरूप आपने रायबाड़े में 'गोकुल दरवाजा' बनवाया, जिसमें लगी 10 वीं शताब्दी की ब्रजवाणी दुर्लभ मूर्ति 12-13 जुलाई 2001 की मध्यरात्रि को चोरी चली गई।

वे काशी नागरी प्रचरिणी सभा के अध्यक्ष भी निर्वाचित

हुए। हिन्दी जगत के एक विद्वान समालोचक पं. पद्मसिंह का मूल्यांकन था कि राय बहादुर हीरालाल हिन्दी गद्य क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। यह अत्यंत गौरव का विषय है कि अनेक विधाएँ स्पर्श करने वाले इस विद्वान को नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् 1933 में डी.लिट् की उपाधि से विभूषित किया था। उनसे नागपुर विश्वविद्यालय के कुलपति का भार सम्हालने के लिये भी आग्रह किया गया था, किन्तु अपने स्वास्थ्य के कारण उन्होंने अत्यंत विनम्रता पूर्वक इंकार दिया।

सेवानिवृत्ति के बाद राय बहादुर डॉ. हीरालाल अपने गृह नगर कटनी में स्थित रायबाड़ा में रहने लगे थे, तब भी ज्ञान, साहित्य, इतिहास, शिलालेख और पुरातत्त्व आदि के क्षेत्रों में उनकी खोज निरन्तर चलती रही और अपने सम्पर्क में आने वालों को भी वे इससे प्रेरित करते रहे। स्वास्थ्य में बहुत कमजोर होने के बाद भी उन्होंने अपने अध्ययन कक्ष तक जाने के लिये सीढ़ियों की जगह एक घुमावदार हलकी चढ़ाई वाला मार्ग बनाया था। वर्तमान में रायबाड़ा का यह कक्ष टूट चुका है। उनका अध्ययन कक्ष यद्यपि आज पुस्तकविहीन और वीरान है, किन्तु वह कुर्सी आज भी उनके अध्ययन कक्ष में मौजूद है, जिस पर बैठकर इस गंभीर साधक ने ज्ञान के क्षेत्र में बहुत गहरी साधना की थी।

सन् 1934 में रायबहादुर हीरालाल को भारत के प्रतिनिधि के रूप में यूरोप में आयोजित पुरातात्वीय सम्मेलन में आमंत्रित किया गया। यूरोप में अपने प्रवास के समय उनका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहा और इसी समय एक मात्र भ्राता गोकुलप्रसाद की मृत्यु का शोक भी उन्हें सहन करना पड़ा। भारत लौटने पर उन्हें शिमला पहाड़ी में विश्राम करने का परामर्श दिया गया, परन्तु यहाँ उन्हें दमे की बीमारी हुई, जिसके कारण उन्हें कटनी लौटना पड़ा। इसके बाद उनके स्वास्थ्य में लगातार गिरावट आती रही, जिसके उपचार के लिये उन्हें नागपुर और तत्पश्चात् मुम्बई ले जाया गया, परन्तु 19 अगस्त 1934 को मुम्बई में उनकी रक्त वाहिनी फट जाने से उनकी मृत्यु हो गई और इस प्रकार नियति ने ज्ञान, साहित्य, भाषा, पुरातत्त्व, इतिहास, नृत्यशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्रों का यह अप्रतिम विद्वान संसार से छीन लिया। जबलपुर नगर के निवासियों के लिये यह गर्व की बात होनी चाहिये कि रायबहादुर डॉ. हीरालाल ने अपनी वसीयत में

जबलपुर स्थित राबर्टसन कॉलेज के प्रतिभावान विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने के लिये 10,000 रु. निश्चित किये थे और जबलपुर नगर की अन्य शैक्षणिक संस्थाओं में प्रतिभावान विद्यार्थियों की सहायता के लिये 3,000 रु. का उल्लेख उनकी वसीयत में था।

रायबहादुर हीरालाल ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की थी और सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान-जगत के वे एक देदीप्यमान नक्षत्र थे। उनके निधन से भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में जो रिक्त स्थान बना वह सम्भवतः आज तक नहीं भरा जा सका। मध्यप्रदेश के लिये तो वे एक गौरव और गरिमा थे। जितने बड़े वे विद्वान थे उतने ही अधिक विनम्र थे। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने 'सरस्वती' में राय बहादुर डॉ. हीरालाल के निधन पर निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी थीं-

*अयी अतीत तेरे ढेले भी, दुर्लभ रत्न तुल्य चिरकाल,  
पर तेरा तत्त्वज्ञ स्वयं ही, एक रत्न था हीरालाल।*

साहित्याचार्य श्री जगन्नाथ प्रसाद ने रायबहादुर डॉ. हीरालाल की कीर्ति गाथा निम्नांकित पंक्तियों में दी थी-

*हीरा मध्यप्रदेश के भारत के प्रिय लाल,  
कीर्ति तुम्हारी अमर है, पंडित हीरालाल।*

हीरालाल के परलोकवासी होने के पश्चात् सैकड़ों विद्वानों ने अपनी महान कृतियों को उनकी पुण्य स्मृति को समर्पित किया अथवा कृति लेखन हेतु उन्हें श्रेय दिया है।

तत्कालीन सरकार ने जबलपुर के निकट रायबहादुर डॉ. हीरालाल जी के सम्मानार्थ उनके ग्राम 'बंधा' का नामकरण 'हीरापुर-बंधा' किया है।

1935 में अखिल भारतवर्षीय हैहय क्षत्रिय महासभा के पंजीकृत विधान में रायबहादुर डॉ. हीरालाल छात्रवृत्तिकोष की स्थापना की गई। जनवरी 1936 में इसी महासभा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के 78 विद्वानजनों के संस्मरणों का एक ग्रंथाकार में प्रकाशन किया, 31 दिसम्बर 1987 को जबलपुर में डाक विभाग द्वारा श्रद्धा स्वरूप विशेष डाक टिकट जारी किया गया और 27 मई 1988 को जबलपुर के तत्कालीन कलेक्टर के सद्प्रयासों से 'इन्डियन नेशनल ट्रस्ट फॉर आर्ट एण्ड कल्चरल हेरीटेज' के

जबलपुर प्रभाग द्वारा इस मनीषी के 6 गजेटियर्स का 'अलभ्य ग्रंथमाला' के अन्तर्गत पुनर्मुद्रण किया गया। 1 अक्टूबर 1991 को नागपुर विश्वविद्यालय के तत्वावधान में 'डॉ. हीरालाल समारोह समिति' द्वारा 125 वीं वर्षगाँठ पर जन्मोत्सव का आयोजन का पुण्य स्मरण किया गया। 1 अक्टूबर 1992 को नागपुर विश्वविद्यालय में अपने पुरातत्व संग्रहालय का नामकरण 'रायबहादुर डॉ. हीरालाल पुरातत्व संग्रहालय' किया। वर्ष 1993 में रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर ने पुण्य स्मृति को अक्षुण्ण रखने हेतु स्वर्ण-पदक की स्थापना की। भारतीय पुरातत्व तथा सर्वेक्षण विभाग द्वारा प्रतिवर्ष इस महान विभूति की स्मृति में व्याख्यान कराने की व्यवस्था की है।

अनेक राजनीतिज्ञों व प्रशासनिक अधिकारियों ने अपने-अपने जिले से सम्बन्धित डॉ. हीरालाल कृत जिला गजेटियर्स का

माधवराव सप्रे संग्रहालय के माध्यम से पुनर्मुद्रण कराया और उनकी पुण्य स्मृति को स्थायी बनाये रखने की आवश्यकता प्रतिपादित की गई, जिससे मध्यप्रदेश भी गौरवान्वित हो।

इंडियन नेशनल ट्रस्ट फार आर्ट एण्ड कल्चरल हेरीटेज द्वारा 'विश्व-विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर डॉ. हीरालाल' पर केन्द्रित 'शिलालोक-ग्रंथ' में प्रकाशित संदेश में 'पूर्व राष्ट्रपति महामहिम स्व. डॉ. शंकर दयाल शर्मा' ने कहा था 'कुछ प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ऐसे होते हैं जो समय की शिला पर अपने पदचिह्न छोड़ जाते हैं। किसी सजग समाज का यह दायित्व होता है कि वह पदचिह्नों को मिटने न दे।'

- यह आलेख 'हैहय क्षत्रिय मित्र अंक जनवरी-फरवरी 1936, इलाहाबाद की सामग्री पर आधारित है

## लोक का वट-वृक्ष : कोमल कोठरी

विजय वर्मा

आदमी जमीन में अपनी जड़े पाताल तक पहुँचाये और फिर इतना ऊँचा उठे कि उसका सिर आकाश को भेदने लगे, तो वह विशिष्ट होता है और फिर यूँ विशिष्टता अर्जित करने के बाद भी यदि वह आदमी बराबर ज्ञान की पिपासा लिए, निरभिमानी रहकर काम करता रहे, तो वह अति विशिष्ट होता है। कोमल कोठारी, कोमल दा, ऐसे ही अति विशिष्ट व्यक्ति थे।

कोमल जी हमारे कतिपय महानगरीय विद्वानों की तरह, वे किसी बनी-बनाई अकादमिक या शास्त्रीय लीक के फकीर नहीं थे। लोक के क्षेत्र में 1953 में एक बहुत छोटी और अनायास शुरुआत से प्रारम्भ करके उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया और अपनी मौलिक मूल्य दृष्टि और कार्य पद्धति विकसित की। 1987 में अलवर में आयोजित, मेवात की मौलिक परम्पराएँ संबंधी सेमिनार में कोमल कोठारी ने बताया कि उन्होंने लंगों को चार आना प्रति गीत देकर, लोक गीतों के संग्रहण और प्रकाशन का कार्य शुरू किया था। फिर कार्यक्षेत्र के निकट रहने के उद्देश्य से उन्होंने अपने मित्र और सहकर्मी विजयदान देथा के गाँव बोरून्दा को चुना और मात्र 3000 की आबादी वाले उस गाँव से, बिना टेप रिकार्डर इत्यादि की सुविधा के लगभग 20,000 कथाएँ, 17000 गीत और 12000 लोकोक्तियाँ और मुहावरे एकत्रित किये। तीन वर्ष तक एक वयोवृद्ध कालबेलिये को संस्था में टिकाकर उस समाज का पूर्ण परिचय प्राप्त किया और यह दृष्टि प्राप्त की कि यदि लोक के क्षेत्र में कुछ करना है, तो जिससे तुम कुछ सुनना-जानना चाहते हो, उसके प्रति

श्रद्धा रखो, उसे अपना गुरु मानो। कितना अलग है यह तरीका उन तथाकथित शोधार्थियों से जो दस पोथियों में से टीपकर अपनी ग्यारहवीं 'थीसिस' लिख मारते हैं। कितनी अलग है यह दृष्टि उन स्वघोषित कलाप्रेमियों और कलाप्रायोजकों से जो मात्र अपने यश और आर्थिक लाभ और दूसरों के मनोरंजन के लिये 'सांस्कृतिक संध्याएँ' आयोजित करते हैं।

यह मात्र एक सुयोग था कि सही दृष्टि और कार्यविधि के साथ ही कोमलजी में ऐसी व्यवहारबुद्धि और कार्य कुशलता भी थी, जिससे वे एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर और ख्याति की संस्था भी खड़ी कर सके और उसके माध्यम से कलाकारों को लाभान्वित कर सके।

इतना मान-सम्मान पाने के बावजूद कोमलजी अहमन्य नहीं हुए। क्रोधित होते हुए मैंने उन्हें नहीं देखा। शायद 1975 या 1976 की बात है। जयपुर में रवीन्द्र मंच पर एक गोष्ठी थी। वातावरण खासा प्रगतिशीली और गर्म था। कोमलजी ने शुरू किया, कुछ ही मिनट बोले होंगे कि कविवर स्व. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बड़े जोर से कह उठे- यह क्या रूपवादी बकवास है, ऐसा ही कुछ-कुछ अच्छी तरह याद है कि क्रोधित होने के बजाए कोमलजी आत्मरक्षात्मक मुद्रा में इतना ही बोले -मैं तो जाजम बिछा रहा था, यानी यह तो केवल भूमिका के रूप में कहा था।

और यही 'रूपवादी' विद्वान जरूरतमंद कलाकारों के लिए अपने हृदय में निश्छल संवेदना का अथाह सागर लेकर चलता था। बाड़मेर जिले के अप्रतिम गायक, स्व. भूंगर खाँ बीमार पड़े तो कोमलजी का पत्र मेरे पास भी आया - भूंगर खाँ की सहायता करो। बाड़मेर की ही, शारीरिक रूप से अपंग, अनूठी गायिका रूक्मा देवी के लिए भी उन्होंने मुझे लिखा। सीमान्त के कलाकारों को अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर लाने में उनकी भूमिका सर्वविदित है और मैं इस बात का प्रत्यक्षदर्शी हूँ कि ये कलाकार उन्हें पिता-समान मानते थे। आराम से बैठे बतियाते कोमलजी के डील को हौले-हौले दबाते कलाकारों का नजारा मैंने कई बार देखा है। कोमलजी उन्हें चेताते भी थे, तुम्हारी संगीत परम्परा में शास्त्रीय जैसा लगता कौशल विकसित हुआ है, लेकिन शास्त्रीय संगीत का व्याकरण तुम्हारे पास नहीं है, अपनी परम्परा में रहते हुए गाओ बताओ, शास्त्रीय गायकों जैसा दिखने की कोशिश करोगे तो न इधर के रहोगे, न उधर के।

उनकी अंग्रेजी बहुत अच्छी नहीं थी, लेकिन इस कमजोरी को वे छिपाते नहीं थे। 1972 में लंगों के बारे में लिखी पुस्तिका की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा, मैं अपनी अंग्रेजी के बारे में आश्वस्त नहीं हूँ, पाठकगण कृपया ध्यान रखें। पिछले वर्ष पेंग्विन ने कोमलजी से हुए वार्तालापों के आधार पर रुस्तम भरूचा द्वारा लिखित पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें कोमल जी की सुविज्ञता की विशिष्टताएँ और सीमाएँ, दोनों स्पष्ट होकर उभरती हैं। वे आश्चर्यजनक हद तक बहुविध और बहुश्रुत थे। धाराप्रवाह बोलते थे, लेकिन उतना उन्होंने लिखा नहीं, अकादमिक ढंग का लेखन मय पाद-टिप्पणियों और उदाहरणों के तो शायद बिल्कुल नहीं किया। उनकी ईमानदार स्वीकारोक्ति थी कि जितना मैं ज्यादा जान पाता हूँ, उतना ही मुझे लगता है कि लिखने के लिए मुझे और ज्यादा जानना चाहिए। उनका तरीका, उनका पसंदीदा विचरण-लोक, लोकवार्ता का वाचिक परम्परा का देखे और सुने का था, लिखित गवेषित-विवेचित इतिहास का नहीं। उनकी परम्परा स्व. अगरचंद नाहटा की थी, जो अपने को 'अभ्यासी' कहा करते थे, विद्वान नहीं, न कि इतिहासकार, स्व. डॉ. दशरथ शर्मा या स्व. डॉ. रघुवीर सिंह की।

असह्य पीड़ा और निरंतर बढ़ती हुई कमजोरी के बावजूद लगभग अंत तक उनका पढ़ना लिखना और मनन चिंतन जारी रहा। मैंने इस वर्ष के शुरू में एक पत्र उन्हें लिखा था। डोम जाति और राजा रसालू के सम्बन्ध में कुछ जानकारी चाहते हुए। 13 जनवरी का उनका उत्तर मेरे सामने है- 'प्रिय श्री वर्मा साहब, आपका पत्र अभी मिला। आज मेरी स्थिति ऐसी है कि मैं लिख पा रहा हूँ। दूसरे पत्रों का उत्तर लिखने का काम कर ही रहा था कि आपका पत्र भी मिल गया। स्थिति ऐसी है कि कभी भी दर्द की वजह से लिखना बंद हो जाय। सो सोचा कि मैं जल्दी ही आपको उत्तर दे दूँ।' तीन पृष्ठों का टाईपशुदा पत्र यँ समाप्त होता है, 'कुछ पता नहीं कि डोम को लेकर उपरोक्त विचार आपकी खोज व सोच के उपयुक्त होंगे या नहीं। मैं आपके प्रश्न से जहाँ-जहाँ उद्वेलित हुआ तो ही प्रतिक्रिया में लिख गया। उपयोगी होगी तो यह मत सार्थक बना इसे अपने नियत स्थान (रद्दी की टोकरी) पर डाल दीजिएगा।'

ये पंक्तियाँ अपने लेखक की जिजीविषा और विनम्रता के बारे में कितना कुछ नहीं बोल जाती? पारा मिली उस मिट्टी की

हलचल अब हमेशा के लिए थम गई है। वो दर्द उन्हें अपने साथ लेकर रुखसत हो चुका है। शारीरिक रूप से, लोक का वह अक्षयवट, वह राजस्थान का रामनेरश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, अब उपस्थिति नहीं है, लेकिन उसकी कीर्ति का अक्षयघट कभी नहीं रीतेगा और उसका यह संदेश बराबर हमें प्रेरणा देता रहेगा— उड़ो मत, जमीन से जुड़ो यूँ जुड़कर काम करोगे तो तुम्हारी ऊर्ध्वस्थ हथेलियाँ स्वयं न जाने कितनों की उड़ान के लिए साक्षात् विमानतल हो जाएगी।

कुछ लोगों के लिए यह महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि कोमलजी को पद्मभूषण से नवाजा गया था कि उन्होंने उपेक्षित लोक कलाकारों के लिए विदेश, प्रसिद्धि और समृद्धि के द्वार खोल दिए। लेकिन मेरे लिये ये केवल आनुषंगिक बातें हैं। मेरे निकट जो चीजें कोमल दा को वंदनीय बनाती हैं, उनकी वह निभ्रांत दृष्टि, उनका वह निर्भीक उद्घोष है जो ऊपर उल्लिखित, 1987 के उनके उद्बोधन का हिस्सा थे। उन्होंने कहा था, 'लोककलायें इतिहास में किसी भी वक्त राज्याश्रित नहीं रही— हमेशा जनाश्रित रहीं— वे जातियाँ जो हमारे समाज में नीची से

नीची मानी जाती रही हैं, उन्होंने सर्वाधिक प्रदर्शनात्मक कलाओं को आर्थिक आधार प्रदान किया— कभी भी राज्य कला का मात्र संरक्षक नहीं रहा— जो योग्य हो जायेगा, सत्ता उसे स्वीकार करेगी, लेकिन (इस योग्य बनने की) प्रक्रिया को बनाने में (वह) सशक्त (सक्षम) नहीं है — हमारे प्रोसेस के अंदर, जो काम हम कर रहे हैं, उसके अंदर स्टेट कहाँ है, सत्ता कहाँ है, उसमें से सत्ता गायब है — जो कलायें सत्ताश्रयी होंगी, उनके लिए जरूर मुझे कभी-कभी दुःख होता है कि ये मर जायेंगी। जो सत्ताश्रयी नहीं होंगी और जनता का जो आश्रय आज मौजूद है वो आश्रय अगर मिलता रहा और वो आशीर्वाद अगर उनको रहा तो वे हमारे बीच से समाप्त नहीं होंगी।'

इस संदेश को हृदयंगम करके, उसके अनुरूप कार्य करके ही हम कोमलजी को सच्ची और सार्थक श्रद्धाजलि दे सकेंगे। आज लोक को लेकर हल्ला और दिखावा तो बहुत हैं, लेकिन लोक का परिमाण सिकुड़ रहा है और गुण क्षीण हो रहा है। ऐसे में लोक के इस विलक्षण और कर्मठ भोपे सिपाही का जाना एक बहुत बड़ी क्षति है।

## लोक के अध्येता : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय

डॉ. मुक्ता खन्ना

संस्कृति किसी भी सभ्य समाज का प्राण तत्त्व है, जिसके अभाव में सभ्यता के विकास की कल्पना कर पाना असम्भव है। लोक जीवन में छोटी से छोटी क्रिया भी संस्कृति की परिधि में आती है। लोक जीवन की प्रत्येक गतिविधि में प्रतिबिम्बित होने वाली लोक संस्कृति का अवलोकन करने का सर्वोत्तम साधन लोक साहित्य है, जो श्रुति परम्परा में लोकगीतों, लोककथाओं, लोक गाथाओं आदि के रूप में ग्रामीण समाज में बिखरा पड़ा है। प्रारम्भिक युगों में लोक साहित्य की इस प्रभूत राशि का संकलन न होना, विडम्बनापूर्ण है। प्रसन्नता का विषय है कि आधुनिक युग में अन्यान्य लोक साहित्य मर्मज्ञों ने लोकसाहित्य के संकलन का कार्य किया है, जिनमें उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के सोनबरसा गाँव में सन् 1910 में जन्मे डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय अग्रपांक्तेय हैं। लोक के कोने-कोने में पड़े हुये, लोकगाथा, लोककथा, लोकवार्ता, नाट्य-नौटंकी, लोकगीत आदि को धूल में पड़े हीरे के समान परखने वाले जौहरी की भाँति तराशकर महत्त्वपूर्ण ज्ञान राशि बना दिया है। आचार्य त्रिलोचन पाण्डेय स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'डॉ. उपाध्याय ने हिन्दी में लोक साहित्य की प्रतिष्ठा की है' इतना ही नहीं वे आगे लिखते हैं- 'उनके सामने बैठने पर इस विषय का एक प्रकार से इतिहास जीवंत हो उठता है।'

कृष्णदेवजी ने अपनी कर्मस्थली, अपनी जन्मस्थली से दूर परन्तु सांस्कृतिक काशी को बनाया 'आत्मा तै जायते' के सिद्धांत पर वे खरे ठहरते हैं। बचपन से ही वे घर के पास-पड़ोस में होने वाले सांस्कृतिक गतिविधियों को जानने के अति जिज्ञासु थे। जब तक उनकी जिज्ञासा का शमन न होता था, वे संतुष्ट न होते थे। यह खोज और जिज्ञासु प्रवृत्ति ही कालान्तर में लोक साहित्य के संकलन का



मूलकारण सिद्ध हुई। माध्यमिक शिक्षा बलिया से प्राप्त कर वे उच्चशिक्षा हेतु काशी विश्वविद्यालय गये। जहाँ हिन्दी और संस्कृत से स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त की। तदन्तर 1951 में लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. दीनदयाल गुप्त के शोध निर्देशन में 'भोजपुरी लोक साहित्य' विषय पर शोध कार्य किया। उनकी यह शोध कृति आज भी हिन्दी लोकसाहित्य की अध्ययन परम्परा में मानक ग्रंथ के रूप में मान्यता प्राप्त है। शिक्षा प्राप्ति के उपरांत जीविकोपार्जन हेतु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय से वे जुड़े, लेकिन लोक साहित्य लेखन को उत्तरोत्तर उन्होंने विकासशील रखा। 1969 में मुगलसराय के लालबहादुर शास्त्री डिग्री कॉलेज सराय के प्रधानाचार्य नियुक्त हुये। इस पद से सेवामुक्त हो, अपने अंतिम श्वास 16 जून 1997 तक वे लोक साहित्य सेवा में समर्पित रहे। इसी दौरान 1971 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में नियुक्त हुए। 1974 तक इस पद पर कार्य किया और फिर भोजपुरी लोकसाहित्य के प्रचार-प्रसार में सन्यासी की तरह लग गये। भोजपुरी साहित्य के संकलन और प्रसार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन निष्काम भाव से समर्पित कर दिया। लोक साहित्य की निष्ठापूर्वक सेवा उनके जीवन का परम ध्येय बन गई थी। अपने विभिन्न ग्रंथों के लेखकीय वक्तव्यों में वे बारम्बार यह प्रार्थना करते हैं कि विद्याबुद्धि और स्वास्थ्य से वे निरन्तर सम्पन्न रहें। 'अन्त में बाबा विश्वनाथ तथा माता अन्नपूर्णा से मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे सुंदर स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य प्रदान करें, जिससे मैं लोकसाहित्य की सेवा करने में सदा संलग्न तथा समर्थ बन सकूँ।'

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय का सम्पूर्ण जीवन लोक साहित्य के शिक्षण, संकलन और प्रचार के कार्यों में ही व्यतीत हुआ। लोक साहित्य में उनके उत्कृष्ट योगदान के कारण कई बार उन्हें विदेशों में आमंत्रित किया गया। सन् 1965 में जर्मनी के मारउर्ग विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित लोकसाहित्य सम्मेलन में उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। इस सम्मेलन में उनके द्वारा दिये गये नितान्त मौलिक एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान से जर्मनी में विद्वत समुदाय ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया। इसी के परिणाम स्वरूप सन् 1966 में जर्मनी के गार्टिंगन विश्वविद्यालय में उन्हें भारतीय लोकसाहित्य के विजिटिंग प्रोफेसर का दायित्व सौंपा गया। इस विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य करने के

दौरान लोक साहित्य से सम्बन्धित इनके विभिन्न लेख मिड वेस्ट फोकलोर आदि जैसी विदेशी विश्वविख्यात पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इंग्लैण्ड, फ्रांस, डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन में उन्होंने भारतीय संस्कृति पर व्याख्यान दिये। 1968 में डॉ. उपाध्याय को इण्डियाना विश्वविद्यालय ब्लूमिंगटन अमेरिका में आमंत्रित किया गया जहाँ उन्होंने भारतीय लोक संस्कृति पर व्याख्यान प्रस्तुत किया। 1969 में रोमानिया के बुखारेस्ट नामक शहर में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय लोक-कथा सम्मेलन में उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया और सम्मेलन के एक सत्र में सम्मेलन का सभापतित्व भी किया। 1969 में स्वदेश लौटने पर वे दूसरी बार 1980 में पुनः अमेरिकी विश्वविद्यालयों में भाषण देने गये। अमेरिका की एशियन फोकलोर सोसाइटी ने उन्हें अपनी सदस्यता भी प्रदान की। सन् 1988 में उनके नेतृत्व में एक लोक-सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल मारिशस भेजा गया था। विदेशों में भी भोजपुरी लोक साहित्य के प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित अनेक उल्लेखनीय कार्य किये गये, जिनमें इण्डिया इण्टर प्राइजेज, जॉर्जिया तथा पेरामाउण्ड कॉस्ट्रक्शन कम्पनी, जॉर्जिया की सहभागिता भी उल्लेखनीय है।

डॉ. उपाध्याय भोजपुरी लोक साहित्य के प्रचार-प्रसार में सतत् संलग्न रहे। भोजपुरी साहित्य के विकास के लिए उन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर लोक संस्कृति सम्मेलन आयोजित करने की परम्परा का सूत्रपात किया। उनके संयोजकत्व में सन् 1958 में प्रयाग, 1959 में बम्बई तथा 1961 में उज्जैन में अखिल भारतीय लोक संस्कृति सम्मेलन आयोजित किये गये। 1964 में वाराणसी में आयोजित अखिल भारतीय भोजपुरी सांस्कृतिक सम्मेलन में उन्हें अध्यक्ष पद पर सुशोभित किया गया। इस अवसर पर उनके द्वारा अध्यक्षीय भाषण में भोजपुरी साहित्य के विकासार्थ अनेक सुझाव दिये गये। उत्तर प्रदेश की संगीत नाटक अकादमी ने उन्हें अपना सदस्य भी मनोनीत किया।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोक साहित्य के विकास के लिए सन् 1961 में 'जर्नल ऑफ इण्डियन फोक कल्चर' नाम पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ किया। बाद में अतिशय व्यस्तता के कारण उन्होंने सम्पादन कार्य का दायित्व छोड़ दिया और भारतीय लोक संस्कृति ग्रंथमाला के प्रकाशन से सम्बद्ध हो गये। इस ग्रंथमाला के अंतर्गत उन्होंने बहुत से ग्रंथों का सम्पादन किया। साथ ही भारत में लोक साहित्य का प्रचार एवं प्रसार

करने, लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्राप्त रचनाओं को संकलित करने और देश के विभिन्न राज्यों में शोध कार्य करने वाले विद्वानों तथा अनुसंधानकर्ता छात्रों को एक मंच पर एकत्रित करने के उद्देश्य से डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने सन् 1958 में भारतीय लोक संस्कृति शोध-संस्थान' की स्थापना की। जो वाराणसी कैण्ट से हिन्दू विश्वविद्यालय जाने वाले मार्ग पर गुरुधाम कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड रोड पर अवस्थित है। भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान पूर्ण रूप से स्ववित्त पोषित और विकसित संस्थान है।

इस संस्थान में एक समृद्ध पुस्तकालय है जिसमें फ्रेंच, जर्मन, डच, अंग्रेजी, इटैलियन, हिन्दी, भोजपुरी, गुजराती, कन्नड़, बंगाली, मराठी आदि भाषाओं में लिखित लोक साहित्य में संबंधित तीन हजार से अधिक पुस्तकें हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें अत्यन्त दुर्लभ हैं, जिनमें इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस ब्लूमिंगटन अमेरिका से 1958 में प्रकाशित स्मिथ थामसन और वारेन ई. राबर्टस की टाइप्स ऑफ इण्डिका ओरल टेल्स इण्डिया पाकिस्तान एण्ड सीलोन आदि प्रमुख हैं। इस शोध संस्थान में दो सौ वर्ष पूर्व विलियम टॉमस द्वारा स्थापित 'नोट्स एण्ड क्वैरीज' नामक पत्रिका के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश तथा हंगेरियन के लोक साहित्य से सम्बन्धित दुर्लभ पत्रिकाएँ उपलब्ध हैं।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा स्थापित 'भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान' में एक अभिलेखागार भी है। इस अभिलेखागार में लोक साहित्य से सम्बन्धित अप्रकाशित और प्रकाशित पुस्तकें तथा पाण्डुलिपियाँ, ऑडियो टेप्स, वीडियो कैसेट्स तथा भारतीय लोक संस्कृति सम्बन्धी विभिन्न चित्र, फोटोग्राफस और स्केच चित्र सुरक्षित हैं। निश्चित रूप से डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय की योजनाएँ लोक साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। लोक साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक साहित्य से सम्बन्धित विद्वानों और शोध छात्रों को प्रोत्साहित करने के लिए उपर्युक्त संस्थान के माध्यम से विभिन्न पुरस्कारों की भी योजना की है। यह संस्थान लोक संस्कृति सम्मेलन, सेमिनार और लोक साहित्य कार्यशाला भी आयोजित करता रहा है। स्वयं उनके संयोजकत्व में लोक संस्कृति सम्मेलन का प्रथम आयोजन सन् 1958 में प्रयाग में हुआ। तदन्तर

यह क्रम बढ़ता गया। वस्तुतः यह संस्थान डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय की लोक साहित्य सेवा सम्बन्धी योजनाओं का साकार रूप है।

उपाध्यायजी के लोक साहित्य में योगदान के आलोक में स्पष्ट होता है कि उन्होंने लोक संस्कृति के अनछुए पक्षों को प्रकट किया है, सर्वप्रथम उन्होंने लोक संस्कृति और लोक-साहित्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए भ्रम उत्पन्न करने वाले कारकों को दूर किया। अंग्रेजी के शब्द 'फोकलोर' का प्रयोग संस्कृति और साहित्य दोनों के लिए बिना, इनके पार्थक्य को समझे, होता रहा, लेकिन उपाध्यायजी ने यह सिद्ध किया कि 'अंग्रेजी में फोकलोर' और 'फोक लिटरेचर' में जो अंतर है। वही लोक संस्कृति और लोक साहित्य में हैं। लोक संस्कृति के विस्तृत फलक के एक कोने में लोक साहित्य दैदीप्यमान है। स्वयं उपाध्यायजी मानते हैं कि लोक संस्कृति एक विस्तृत नदी है और लोक साहित्य की उपमा उसकी छोटी सी सहायक नदी से दी जा सकती हैं। लोक संस्कृति के विराट स्वरूप के अन्तर्गत उसका आध्यात्मिक तत्त्व, लौकिक तत्त्व, परलोक सम्बन्धी अवधारणा, जीवन के आदर्श, संस्कार, सामाजिक उत्सव आदि के क्रमवार अध्ययन बिन्दु उपाध्यायजी ने समाहित कर इस अध्ययन को व्यापक रूप प्रदान किया है। उन्होंने लोक-संस्कृति का मूल्यांकन पाँच वर्गों में विभक्त कर प्रस्तुत किया, जिसमें लोक विश्वास, अंधपरम्पराएँ, संस्कार, आचार-विचार तथा विधि-विधान, सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मान्यताएँ एवं लोक साहित्य का समेकित अध्ययन उपलब्ध है।

सम्पूर्ण लोक संस्कृति के इस क्रमिक अध्ययन-विकास यात्रा द्वारा यह सिद्ध होता है कि लोक में अध्ययन हेतु बहुत से तत्त्व हैं, जिन्हें शोधपरक दृष्टि की आवश्यकता है। भले ही उन्हें साहित्य में कल्पना या मिथ रूप में अंकित किया जाता हो, पर लोक-संस्कृति के अंतर्गत वे लोक विश्वास की श्रेणी में आते हैं। इनका संकलन कर उपाध्यायजी ने इन विश्वासों को लेकर लोक सहज मनोभावों का स्पष्ट अध्ययन किया है। वास्तव में यह लोक मनोविज्ञान भी है, लोक के मन-मस्तिष्क में ये भाव विश्वास बन के बैठ गये हैं। कुछ अनुभव और कुछ पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान का प्रभाव है, जो यह प्रकाश में आया। शकुन-अपशकुन, पशु-पक्षी, आकाशीय पिण्ड, रोग, औषधि आदि सम्बन्धी विश्वासों के गहन अध्ययन की आवश्यकता रही है, जिसकी अनदेखी साहित्य

में हुई पर लोक साहित्य में उसे महत्त्व प्रदान किया गया है, इसलिये अन्वेषी दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। उसे उपाध्यायजी ने प्रदान किया। धर्म ग्रंथों में जिन सोलह संस्कारों का वर्णन है, उनके विधि-विधान आदि लोक संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये संस्कृति के परिचय हेतु अत्यंत अनिवार्य हैं। पुत्र जन्म, मुण्डन, जनेऊ, विवाह, गवना, मृत्यु ये छह संस्कार प्रधान माने गये हैं और इनके महत्त्व का विशेषताओं के साथ वर्णन कर उपाध्यायजी ने भारतीय संस्कृति के संस्कारपरक विचारों का मंथन प्रस्तुत किया है। सांस्कृतिक अध्ययन के ढाँचे को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाएँ भी प्रभावित करती हैं। इसके अतिरिक्त लोक संस्कृति की धार्मिक एवं आध्यात्मिक मान्यताएँ भी रही हैं। जिन्हें उपाध्यायजी ने अध्ययन हेतु आवश्यक समझा और उसके नमूने भी संकलित किये। पुस्तकीय संकलन सरल है, पर लोक मानस में अंकित तथ्यों का संकलन करना सर्वाधिक दुष्कर है। इस कठिन कार्य को अपने रुचि और क्षमतानुसार उपाध्यायजी ने न केवल सरल बनाया वरन् लोक संस्कृति से साहित्यकारों का परिचय भी कराया है। लोक साहित्य विभाग के अन्तर्गत लोकगीत, गाथा, कथा, नाट्य और सुभाषित (लोकोक्ति, पहेली, मुहावरे) के महत्त्व की चर्चा करते हुए उपाध्यायजी ने इस सुप्त पड़े भाव बिन्दु को जागृत कर दिया। उन्होंने इन समस्त तथ्यों को अपने मौलिक तथा सम्पादित ग्रंथों में लिखा एवं संकलित भी किया है। उनके अध्ययन के विस्तार क्षेत्र को देखकर ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी ने भोजपुरी, अवधी, लोक साहित्य एवं संस्कृति के विकास एवं प्रचारार्थ अमूल्य योगदान दिया है, इतना ही नहीं अन्य साहित्यकारों को इस ओर लेखन के लिए प्रेरित भी किया है। लोक संस्कृति के सार्वजनिक क्षेत्र में संस्कृति के कलापक्ष की व्यापक मीमांसा करते हुए उन्होंने मानव जीवन के अविच्छिन्न अंग को अध्ययन का विषय बनाया।

उनका शोध परक रुझान इस तथ्य से ज्ञात हो जाता है कि भोजपुरी लोकगीत में संकलित गीतों की कुल संख्या 424 है, जिसमें सोहर के चौदह, योग के तीन, सेहला के छह, विवाह के तेरह, बहुरा के छह, पिड़िया के सत्ताइस, गोधना के चार, नागपंचमी का एक, जँतसार के उन्नीस, झूमर के पचास, कजरी के नौ बारहमासा के पन्द्रह, होरी के पन्द्रह, डफ के तीन, चैता के बत्तीस, सोहनी के पन्द्रह, रोपनी के दस, बिरहा के पिचहत्तर,

कहार के सात, गोण्ड के दस, पचरा के पच्चीस, निरगुन के ग्यारह, देशभक्ति ने पाँच, पूर्वी के पन्द्रह, पराती के पन्द्रह, भजन के पन्द्रह और विविध विषयों के चार गीत हैं। उनकी लोक संस्कृति को लेकर यह शोधपरक विचारधारा लोक साहित्य के विकास हेतु उनके रुझान को भी स्पष्ट करते हैं। उपाध्याय जी अपना सम्पूर्ण जीवन रुझान को भी स्पष्ट करते हैं। उन्होंने मात्र इस क्रम को भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं किया, अपितु 'विश्वलोक साहित्य की रूपरेखा' द्वारा समेकित विश्व लोक साहित्य का अध्ययन कर उससे जुड़े विभिन्न पहलुओं को लोक साहित्य प्रेमियों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

लोक साहित्य के एकनिष्ठ साधक डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इस क्षेत्र में जितना कार्य किया है, उस पर विचार करते हुए कह सकते हैं कि उनको लोक-साहित्य के उद्धार के लिए ही जीवन प्राप्त हुआ था। लोक साहित्य की श्रेष्ठतम् विधाओं लोक गीत और लोक कथाओं के प्रति रुझान बचपन से ही था। उनके द्वारा लोक साहित्य के क्षेत्र में किये गये सर्वेक्षण, संकलन और शोध कार्य को उनके बालमन में ही लोक साहित्य के प्रति उत्पन्न रागात्मक चित्रवृत्ति का पुष्पन-पल्लवन माना जा सकता है। यद्यपि डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय को अपनी माता और छोटी बहन से पर्याप्त संख्या में लोकगीत प्राप्त हुये थे, किन्तु उनमें अधिकांश गीत संस्कार सम्बन्धी ही थे, ऋतु सम्बन्धी और जाति सम्बन्धी गीतों का संकलन न था, अतः उपाध्यायजी ने लोक जीवन में जितने भी गीत प्रचलित हैं, उन सभी का संग्रह किया। इस संग्रह कार्य के लिए उन्हें कई बार दूर-दूर तक यात्रायें करनी पड़ीं और बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। संकलन कार्य में आने वाली कठिनाइयों को सहन करते हुए वे लोकगीतों और लोककथाओं के संग्रह कार्य में लगे रहे। लोक साहित्य जैसे अल्पख्यात विषय को अपनी प्रखर मेधा और अथक परिश्रम के बल पर विशिष्ट साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले विद्वानों में कृष्णदेव उपाध्याय निस्संदेह रूप से शीर्षस्थ स्थान के अधिकारी हैं। उनके द्वारा शोध कार्यों और समीक्षा ग्रंथों के रूप में प्रदत्त साहित्यिक रत्नों से लोक साहित्य का आकार सर्वदा समृद्ध रहेगा।

संक्षेपतः डॉ. उपाध्याय ने लोक-साहित्य के इतिहास पर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इतिहास ग्रंथ लिखे हैं। भारतीय लोक

साहित्य के परम्परागत अध्ययन का सूत्रपात उपाध्याय जी के इतिहास ग्रंथ 'भोजपुरी साहित्य का इतिहास' से माना जाता है, यद्यपि इनसे पूर्व जार्ज ग्रियर्सन, रामनेरश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी प्रभृति विद्वानों ने प्रभूत मात्रा में लोक-साहित्यिक सामग्री का संग्रह संकलन किया था किन्तु व्यवस्थित रूप से लोक साहित्य की परम्परा का अध्ययन शुरू नहीं हो पाया था। इस दृष्टि से डॉ. उपाध्याय का योगदान अप्रतिम सिद्ध होता है। भारत में लोक साहित्य की भूमिका लोक संस्कृति की रूपरेखा आदि पुस्तकों में लोक साहित्य के अध्ययन की पाश्चात्य परम्परा का निर्देश करते हुए आधुनिक भारत के लोक साहित्य को विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है। उपाध्यायजी के समेकित लोक साहित्य परक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्होंने लोक जीवन के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का न केवल अन्वेषण किया, अपितु उनके अनछुए

पहलुओं से अवगत भी कराया है। भारतीय लोक संस्कृति एवं साहित्य की सभी गतिविधियों का मंथन करते हुए अपने मूल्यवान ज्ञान तथा अनुभव का जो सारभूत अध्ययन एवं शोध उपाध्याय जी ने किया है, वह समस्त शोधकर्ताओं एवं साहित्य मर्मज्ञों हेतु ग्रहणीय है। साहित्यिक उपादेयता के आधार पर उनका यह कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जो साहित्य मानव जीवन के केवल एक पहलू का वर्णन उपस्थित करता है, उसे सच्चा साहित्य कहा जा सकता है परन्तु जिस साहित्य में जनजीवन की आशा-निराशा, सुख-दुख, विषाद आदि सभी भावनाओं का सजीव चित्रण हो, वही अमर, लोक प्रतिनिधि साहित्य है और इसी लोक साहित्य को उपाध्यायजी ने अमर साहित्याकाश पर स्थापित किया है। ऐसे महामनीषी, लोकसाहित्य सेवक एवं सतत् साधनारत सुधि साहित्यकार के व्यक्तित्व और कर्तव्य को प्रणामाञ्जलि अर्पित है।

### संदर्भ

- लोक संस्कृति की रूपरेखा - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय  
भोजपुरी एक परिचय - डॉ. हरिशंकर उपाध्याय  
लोक साहित्य - डॉ. शारदारंजन शुक्ल  
लोक संस्कृति और इतिहास - ब्रदी नारायण  
भोजपुरी लोक गीत भाग-2 - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय  
अन्य सहायक पुस्तकें -  
भोजपुरी लोक संस्कृति - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय  
लोक साहित्य विज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र  
भोजपुरी साहित्य का इतिहास - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय  
लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय

## लोक अध्येता : कृष्णानन्द गुप्त

अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद'

देश के लोक अध्येताओं में श्री कृष्णानन्द गुप्त का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। उन्हें 'लोकवार्ता' (फोकलोर) शब्द को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने तथा लोकशास्त्र एवं नृशास्त्र से समन्वित लोक संस्कृति की नई अध्ययन शैली विकसित करने का श्रेय प्राप्त है। लोक अध्येता के रूप में जनपदीय अध्ययन योजना का विस्तार करने, लोक साहित्य संबंधी कोशों के निर्माण करने तथा 'बुन्देली विश्वकोश' की विस्तृत परिकल्पना के आधार पर संकल्प लेने का कार्य किया, भले ही वह योजना मूर्त रूप न ले सकी हो किन्तु उसके आधार पर भविष्य में कार्य आगे बढ़ाने का मार्गदर्शन मिल सकता है। बुन्देली साहित्य-संस्कृति के अनन्य पोषक ओरछा नरेश वीर सिंह जूदेव (द्वितीय) के संरक्षण में गठित लोक वार्ता परिषद (फोकलोर सोसाइटी) टीकमगढ़ के सचिव के रूप में देश के सुदूर क्षेत्रों के लोक अध्येताओं को जोड़ने, उनके लेखकीय योगदान से 'लोकवार्ता' नामक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन करके उन्होंने विशेष योगदान दिया था। यह देश में अपने विषय की अनोखी पत्रिका थी, जिसे पर्याप्त सराहना मिली। लोककवि ईसुरी की खोज को आगे बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया था। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह प्रखर समीक्षक उपन्यासकार तथा छात्रोपयोगी वैज्ञानिक-विषयों की पुस्तकों के लेखक भी थे, किन्तु लोक-अध्येता के रूप में उनकी ख्याति अपेक्षाकृत अधिक रही थी। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की विकेन्द्रीकृत 'जनपदीय अध्ययन-योजना' तथा पुरातत्वविद् डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणीयम् योजना' को पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ मिलकर, ओरछेश के संरक्षण में नयी ऊँचाइयाँ प्रदान की थीं।

उनके पूर्वज झाँसी जनपद में लखेरी नदी के किनारे बसे गरौठा ग्राम के निवासी थे। उनके पिता जी श्री लक्ष्मी प्रसाद ललितपुर (झाँसी) में पहले पटवारी स्कूल के प्रधान अध्यापक रहे, बाद में वहीं गिरदावर कानूनगो रहे। उनके दो विवाह हुए थे। दूसरी माता के गर्भ से 3 फरवरी 1903 को ललितपुर में इनका जन्म हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा ललितपुर, माध्यमिक शिक्षा मैकडानल्ड हाईस्कूल (वर्तमान विपिन बिहारी इण्टर कालेज- झाँसी) तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा राजकीय इण्टर कालेज झाँसी में हुई। उन्होंने साहित्य सम्मेलन की मध्यमा (विशारद) परीक्षा भी उत्तीर्ण की थी। उनके बड़े भाई गोपीरंजन दास स्टेशन मास्टर, शिक्षा प्रेमी तथा स्वाध्यायी थे। उन्हीं की छत्र-छाया में उन्हें साहित्यिक स्वाध्याय की सीख मिली। छात्र जीवन से ही उन्हें यह संस्कार मिले।

गुप्त जी के तीन पुत्र श्रीकान्त, रमेश तथा विनोद हैं। एक पुत्री भी थी। 1955 में असमय माता के निधन के कारण उसकी वाणी लुप्त हो गयी थी। गुप्त जी का निधन 27 अक्टूबर 1990 को हुआ था।

गुप्त जी का व्यक्तित्व गम्भीर तथा जीवन साधारण था। लगभग पाँच फुट का कद, कृशकाय देहयष्टि, गेहुँआ वर्ण, आँखों पर चश्मा-यही उनका चित्र बनता है। खादी का कुरता-पाजामा उनका प्रिय वेष था। मस्तक पर रेखाएँ उनकी अध्ययनशीलता की परिचायक थी। समारोहों में जाने से वह कतराते थे।

उनके स्वभाव के बारे में, उनके कुछ अंतरंग मित्रों तथा परिजनों की राय इस प्रकार थी। बुन्देलखण्ड के वरिष्ठ साहित्यकार स्व. हरगोविन्द गुप्त के ही शब्दों में- 'उनके विचारों और अध्ययन की दृष्टि न्यायी है। सृजन की कला भी अपनी है। और इन्हीं सबके साथ उनका स्वभाव भी अपने ढंग का है। सबसे अलग और निराला। किसी के साथ समझौता करके चलना उनकी कुण्डली के गृहों में जैसे है ही नहीं। औरों की तो क्या, अपने आपसे भी उनका समझौता कम ही होता है। बहुत बड़े विद्वान होकर भी वे निभने-निभाने की प्रारम्भिक बातें यानी ओना-मासी नहीं पढ़े हैं। इसका उन्हें कोई खेद नहीं है। यही एक अद्भुत बात है। मैं समझता हूँ दुनिया के अधिकांश विद्वान या बुद्धिजीवी उन जैसे ही रहे होंगे। यानी वे दुनियादार हो ही नहीं सकते।' राठ (जिला-हमीरपुर, उत्तर प्रदेश) के प्रवास में उनके निकट रहने वाले डॉ.

श्याम सुन्दर 'बादल' लिखते हैं- हमारे कुछ मित्रों के विचार में श्री गुप्त जी तेज प्रकृति के, सनकी एवं परिस्थितियों से समझौता न कर सकने वाले प्राणी हैं, किन्तु मेरा अनुभव इसके विपरीत है। मैंने उन्हें सरस प्रकृति का विचारशील एवं संवेदनशील व्यक्ति माना है। हाँ, वे अन्याय के प्रति स्पष्ट वक्ता अवश्य हैं। उनके स्वाभिमान पर चोट पहुँचे तो उन्हें हम अप्रसन्न भी देख सकते हैं। पर इससे कभी किसी का दिल दुखा हो, इसका हमें ज्ञान नहीं। 'क्षणे रुष्टा, क्षणे तुष्टा' वाला स्वभाव जैसे गुप्त जी की प्रकृति में था।' उनके एक अन्य निकटस्थ सज्जन ब्रजबल्लभ गुप्त के शब्दों में '.....इस प्रकार गुप्त जी का संबंध साहित्य सदन से हुआ और एक घर के व्यक्ति के रूप में ही पूज्य ददा और गुप्त जी के सम्बन्ध बड़े घनिष्ट और मधुर रहे, किन्तु दुर्भाग्यवश एक व्यापारिक मामले को लेकर बाद में वे उतने ही कटु भी हो गये।

अग्रज गोपी भैया की प्रेरणा से वह बाल्यकाल से ही साहित्य-लेखन का प्रयास करने लगे थे। उनका पहला लेख 'शिवाजी की गुरु भक्ति' ('विद्यार्थी' इलाहाबाद 1916 में) तथा पहली कहानी 'मौलिकता' (प्रभा, कानपुर 1922) में प्रकाशित हुई थी। उसी अवधि में 'बालसखा' पत्रिका में भी उनके दो लेख प्रकाशित हुए थे। इण्टरमीडिएट में पढ़ते समय संत-कवि सियाराम शरण गुप्त उनके सहपाठी थे। इससे वे उनके माध्यम से राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, उपन्यास सम्राट वृन्दावनलाल वर्मा तथा अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आये। वह बहुभाषाविद् अध्ययनशील व्यक्ति थे। हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, बांग्ला, भाषाओं का नृशास्त्र एवं लोक संस्कृति का विपुल साहित्य उनके पुस्तकालय में था। उनका समृद्ध पुस्तकालय बुन्देलखण्ड में विशेष चर्चित रहा। इन सबके अध्ययन से वह अनेक विषयों के ज्ञाता ही नहीं विशेषज्ञ भी बन गये थे।

लेखक के रूप में इनकी प्रसिद्धि 'प्रसाद के दो नाटक' (1933) नामक पुस्तक से हुई। इस पुस्तक में कृष्णानंद जी ने 'स्कन्दगुप्त एवं चंद्रगुप्त' नामक प्रसाद के दो नाटकों की कटु आलोचना की है। इन्होंने उन नाटकों पर अनैतिहासिकता का आरोप लगाया है तथा इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच के आधार पर इन नाटकों को अत्यन्त त्रुटिपूर्ण बताया है। इस पुस्तक की काफी चर्चा भी हुई, परन्तु इसके बाद इनकी कोई आलोचनात्मक कृति प्रकाश में नहीं आई। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि उक्त

पुस्तक का प्रकाशन वर्ष 1933 नहीं, अपितु 1929 है तथा पुस्तक का सही नाम 'प्रसाद जी के दो नाटक' है। कृष्णानन्द जी की प्रकाशित पुस्तकों का प्रकाशन-विवरण, कालक्रमानुसार तथा प्रकाशकवार निम्न प्रकार है -

- अंकुर** (कहानी संग्रह) 1927, साहित्य सदन, चिरगाँव
- स्वास्थ्य-संलाप** (बालोपयोगी पुस्तक) 1927, साहित्य सदन, चिरगाँव
- केन** (ऐतिहासिक उपन्यास) 1928, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
- शेल्कश** (गोर्की के लघु उपन्यास का अनुवाद) 1929, साहित्य सदन, चिरगाँव
- गीता रहस्य** (इसी नाम की बांग्ला पुस्तक का हिन्दी अनुवाद) 1929, साहित्य सदन चिरगाँव
- प्रसाद जी के दो नाटक** (श्री जयशंकर प्रसाद के दो नाटकों की समीक्षा), 1929, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ
- पुरस्कार** (कहानी संग्रह), 1940 सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद
- जीव की कहानी** (बाल साहित्य) 1941, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद
- पदार्थ-परिचय** (बाल साहित्य) 1941, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद
- नागरिक जीवन** (बाल साहित्य) 1941, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद
- बुन्देली कहावत कोश** 1960, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
- बुन्देलखण्डी भाषा और साहित्य**, 1960, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
- हिन्दुस्तानी कहावत कोश**, 1968, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली (एस०डब्लू० फैलन के कोश का हिन्दी अनुवाद एवं संशोधन) (इसका द्वितीय संस्करण वर्ष 2007 ई० में प्रकाशित हो चुका है।
- ईसुरी की रजऊ विषयक फागे** (1942-1957)-संपादन
- ईसुरी की नेत्र विषयक फागे** (1942-1957)- संपादन

इसके अतिरिक्त उनके अनेक लेख सुधा, माधुरी, विशाल भारत, मधुकर, लोकवार्ता, संगम, सरस्वती, भारती, नवजीवन आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। बनारसी दास चतुर्वेदी के शब्दों में 'कृष्णानंद जी के जो निबन्ध और नोट सब छितरे हुए

पड़े हैं, उनका संग्रह और सम्पादन यदि कर दिया जाये तो कई सुन्दर ग्रंथ बन सकते हैं।'

गुप्त जी ने श्री सियाराम शरण गुप्त के आमंत्रण पर 'साहित्य सदन, चिरगाँव में सेवाएँ दी तथा बाल-साहित्य की चार पुस्तकें लिखी। 1926-30 तक वहाँ रहे। अपने स्वभाव के अनुरूप वह वहाँ अधिक दिन नहीं टिक सके। इसके बाद 1933 में गुप्त जी ने सुधा के 'ओरछा अंक' का संपादन किया था। उसके लिए उन्होंने जितना श्रम किया, स्वयं ओरछा जाकर सामग्री संकलित की तथा ओरछेश से मिले। उससे ओरछेश वीर सिंह जूदेव (द्वितीय) उनके बहुआयामी ज्ञान के अनन्य प्रशंसक बन गये थे। उन्होंने बुन्देलखण्ड प्रांत निर्माण हेतु एक आन्दोलन चलाने की इच्छा से, साहित्यिक-सांस्कृतिक वातावरण बनाने के लिए, अनेक साहित्यकारों सर्व श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, यशपाल जैन, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी आदि को टीकमगढ़ आमंत्रित करके विशिष्ट राजकीय-अतिथि के रूप में टीकमगढ़ तथा कुण्डेश्वर में साधन-सुविधाएँ उपलब्ध कराई थीं। वह स्वयं साहित्यप्रेमी थे तथा साहित्य एवं साहित्यकारों पर उदारतापूर्वक धन लुटाते थे। ओरछेश ने गुप्त जी की ख्याति सुनकर पं. बनारसी दास चतुर्वेदी के माध्यम से 1942 में उन्हें टीकमगढ़ बुला लिया। मूलतः उन्हें एक 'अंग्रेजी-हिन्दी कोश' निर्मित करने के लिए बुलाया गया था, किन्तु वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। गुप्त जी वापिस लौटना चाहते थे, किन्तु ओरछेश की इच्छा थी कि 'मधुकर' पत्रिका के माध्यम से पं. बनारसी दास चतुर्वेदी बुन्देलखण्ड के लिए जो कार्य कर रहे हैं, उसे जनपदीय-आन्दोलन की रूपरेखा के आधार पर 'लोकवार्ता परिषद (फोकलोर सोसायटी) बनाकर आगे बढ़ाया जाए। यह कार्य कृष्णानन्द जी को सौंपा गया। इसका कार्य निश्चित किया गया- जनपदीय संस्कृति, लोकभाषा और साहित्य का संरक्षण तथा उसके वैज्ञानिक अध्ययन को बढ़ावा देना। यूरोप तथा अमरीका में 'फोकलोर' पर काफी कार्य चल रहा था, भारत में यह अपने ढंग का अनुष्ठानपरक कार्य था। कृष्णानंद जी को इस संबंध में वैश्विक गतिविधियों की जानकारी थी, अतः उन्हें परिषद् का सचिव तथा अंतर्राष्ट्रीय नृशास्त्रविद् डॉ. वैरियर एल्विन को अध्यक्ष बनाया गया। उन्हें आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने मानद डी०एस०सी० प्रदान की थी। ओरछेश स्वयं परिषद् के संरक्षक बने।

उनका मुख्य साहित्यिक अवदान ओरछा-प्रवास में ही हुआ। वह वहाँ 1946 में 'लोकवार्ता' पत्रिका बंद होने तक रहे। कुछ वर्ष घर पर रहकर 1949-50 में लीडर-प्रेस प्रयाग से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'संगम' के प्रधान सम्पादक रहे। वह बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित शोध-पत्रिका 'बेतवा-वाणी' के सम्पादक मण्डल में भी रहे।

उनके टीकमगढ़ प्रवास के समय उन पर तथा लोकवार्ता परिषद पर ओरछेश का वरदहस्त रहा। कृष्णानन्द जी की योजना में राज्य का बड़ा अमला लगा दिया गया। उनके सुझाव पर भारी पैसा खर्च करके दुर्लभ पुस्तकालय बनाया गया। उत्तर प्रदेश तथा बिन्ध्य प्रदेश के सभी जिलों में जिला समितियाँ गठित करके, हर गाँव तथा नगरों को खँगालकर लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं-लोक गीत, फाग, लोकगाथाओं, लोक कथाओं, कहावतों, मुहावरों, पहेलियों आदि का भारी मात्रा में संकलन कराया गया। इस सभी, सामग्री में से कुछ का उपयोग 'लोकवार्ता' (त्रैमासिक) पत्रिका निकालकर उसमें तथा वहीं से प्रकाशित 'मधुकर' (संपादक-पं० बनारसीदास चतुर्वेदी) में किया गया। वह कुण्डेश्वर में संगृहीत इस अप्रकाशित सामग्री को अपने साथ घर (गरौठा) लाए थे। जिसे मैंने बोरों में रद्दी की तरह भरे हुए संग्रहकर्ताओं के पत्र-व्यवहार सहित देखा है तथा उनका हल्का-फुल्का अध्ययन भी किया था। मैंने स्व. गुप्त जी के पुत्र रमेश से अनुरोध भी किया था कि वे इसे टीका सहित संपादित करके प्रकाशित करें-कराएँ। इस संदर्भ में मेरे तथा उनके बीच पत्र व्यवहार भी समय-समय पर होता रहा है। तदनुसार उन्होंने इस कार्य को कुछ आगे बढ़ाया भी है।

इस पत्रिका के केवल छह अंक निकले। किन्तु उनसे देश-विदेश में पत्रिका की धूम मच गई। प्रतिष्ठित विद्वानों ने उसकी सराहना की तथा कृष्णानन्द जी को यश मिला। इस पत्रिका का प्रवेशांक जून 1944 में निकला। इसमें जो लेख प्रकाशित हुए अकारादि क्रम से उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है। इन लेखों पर पाठकों की जो जिज्ञासा सूचनाएँ तथा प्रेरक सामग्री आती थी, उसे इस सूची में 'चिट्ठी पत्री, सूचनाएँ और जिज्ञासा' शीर्षक से दिया जा रहा है।

(1) अखती- बालकृष्ण देव तैलंग, (2) अहीरों का

पौराणिक महत्व- सम्पादक, (3) ईसुरी के विषय में एक दोहा- एक ईसुरी भक्त, (4) उत्तर भारत के दो मांगलिक उत्सव और उनकी प्राचीन परम्परा (1) इन्दर का जग्य (2) दूर्वाष्टमी- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल (5) एक बहुप्रचलित प्राचीन खेल- कृष्णानंद गुप्त, (6) एक लोकगीत- पं. चन्द्रभानु 'विशारद', (7) ओरछा-राज्य में मनसा की मूर्तियाँ- कृष्णानंद गुप्त, (8) कहावतें- कृष्णानंद गुप्त, (9) कारसदेव और उनकी पूजा- रामस्वरूप योगी, (10) कारसदेव की गोटें- रामस्वरूप योगी, (11) कुचबाँदियों में अग्नि परीक्षा की प्रथा- सत्यशोधक, (12) कुछ जनपदीय शब्दों की पहचान- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, (13) गड़रियों में विवाह प्रथा- भैरों प्रसाद सक्सेना, (14) गीत के विषय में यत्किंचित- सम्पादक, (15) गुजरात का लोक साहित्य- रविशंकर नरोत्तम पाठक, (16) गौड़, गौंड और गोंडवाना- कुँवर कन्हैया जू (17) चिट्ठी-पत्री, सूचनाएँ और जिज्ञासा- विविध लेखक, मनसा माता का व्रत- गौरीशंकर हीराचंद ओझा, महाराष्ट्र की मनसा देवी उर्फ जिवती- भास्कर रामचंद्र भालेराव, बाबू की पूजा और बाबू शब्द- हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू की पूजा- वृन्दावन लाल वर्मा, देवकुलों की प्राचीनता- माधवराव, विनायक किवे, छींक संबंधी लोक विश्वास- गणेश चौबे, पोड़ा (बैलों के पूजन का एक महाराष्ट्री त्योहार)- बालकृष्ण महादेव मांडवगणे, जवारे- रामस्वरूप, साहित्य शात्री, रामायण की कथा के विविध रूप- हजारी प्रसाद द्विवेदी, कोलों के विषय में- चन्द्रभानु विशारद, रीवां राज्य के गोंडों के गीत- लोकभानु सिंह बघेल, कोलों के विषय में- गणेश चौबे, एक जिज्ञासा- रविशंकर पाठक, सीता वनवास का गीत- गणेश चौबे, गुजराती और बुन्देलखण्डी कहावतें- रविशंकर पाठक, रक्कस बाबा- रामस्वरूप योगी, बघेली, बुन्देलखण्डी और बाँदा प्रान्त की भाषा का अन्तर- चन्द्रभानु विशारद, वैश्य जाति में दसा और वीसा- कस्तूरमल बांठिया, पोपा बाई- रविशंकर पाठक, उरद बाजार- वासुदेव शरण अग्रवाल, कुछ जातक कथाओं के बुन्देलखण्डी रूप- रामकिशोर गुप्त, (18) छक्का-चपेटा- रामस्वरूप योगी, (19) जगदेव को पँवारौ- संग्रही, (20) जाल कौमुदी- कृष्णानंद गुप्त, (21) दो बुन्देलखण्डी गप्पें- शिवसहाय चतुर्वेदी, (22) द्राविण- डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, (23) धान की खेती से संबंधित शब्दावली- हरिहर प्रसाद गुप्त, (24) पीपल की भाँवर- पं० काशीनाथ नायक, (25) पोपाबाई- रघुनाथ सिंह, (26) फेयरी टेल्लस- देव, (27)



बाबू शब्द और बाबू की पूजा- सत्यशोधक, (28) बाबू शब्द अथवा गुसाई की पूजा- स्वामी प्रसाद गंगेले, (29) बाँदा प्रान्त के ग्राम देवता- चन्द्रभानु विशारद, (30) बाँदा प्रान्त के ग्राम देवता (शेषांश)- चन्द्रभानु विशारद, (31) बुन्देलखण्ड के गड़रिये और उनकी विवाह-प्रथा- रामस्वरूप योगी, (32) बुन्देलखण्ड के लोक विश्वास (जन्म संबंधी)- हरगोविन्द गुप्त, चन्द्रभानु विशारद, (33) बुन्देलखण्ड के लोक विश्वास- चन्द्रभानु विशारद, गणेशी लाल बुधौलिया, रामस्वरूप योगी, (34) बुन्देलखण्ड की सौर जाति- डॉ. रघुनाथ सिंह, (35) भारत की वन्य जातियाँ- डॉ. वैरियर एल्विन, (36) भारतीय लोक कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह- डॉ. वैरियर एल्विन, (37) भोले बाबा- पीताम्बर राव तैलंग, (38) मथुरावली (एक बुन्देलखण्डी लोकगीत)- मधुसूदन द्विवेदी, (39) महामहिम लोकजीवन- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, (40) माड़ियों के देश में- कृष्णानंद गुप्त, (41) मुण्डा गीतों की भाव-भूमि- जगदीश प्रसाद त्रिगुणायत, (42) रावण के सांस्कृतिक वंशधन- माधवराव विनायक किवे, (43) रामायण की कथा के विविध रूप- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, (44) रायबहादुर शरच्चंद्र राय- गणेश चौबे, (45) लोकवार्ता शास्त्र- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, (46) लोकवार्ता का सन्देश- डॉ. वृन्दावन लाल वर्मा (47) लोकवार्ता का निर्माण- बनारसी दास चतुर्वेदी, (48) लोकवार्ता शास्त्र की व्यापक उपयोगिता- वृन्दावन लाल वर्मा, (49) लोकजीवन का अध्ययन कैसे हो?- पं. रामनरेश त्रिपाठी, (50) लोकवार्ता संग्रह का एक अमूल्य ग्रंथ- भास्कर रामचंद्र भालेराव, (51) लोकवार्ता शास्त्र के प्रेमियों के लिए संग्रह-कार्य योजना- गणेश चौबे, (52) लोकजीवन में 'परजा' का स्थान- हरिहर प्रसाद गुप्त, (53) सम्पादकीय- संपादक, (54) सम्राट की नई पोशाक (ऐन्डरसन की एक कहानी और उसके प्रचलित देशी रूप)- श्री देव, (55) सुनारों की सांकेतिक भाषा- गणेश चौबे, (56) हँसने का कारण (एक बुन्देलखण्डी कहानी)- शिवसहाय चतुर्वेदी, (57) हिन्दू संस्कृति और लोकवार्ता शास्त्र का अध्ययन- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, (58) होली के अश्लील गीतों की उत्पत्ति का कारण- गणेश चौबे।

उक्त सूची के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि पत्रिका में दुर्लभ विषयों पर देश-विदेश के ख्यातिनाम लेखकों से आलेख मँगाए जाते थे। उनमें कभी-कभी संपादकीय टिप्पणी जोड़कर

प्रकाशित किया जाता था। गुप्त जी की बहुज्ञता के कारण उन टिप्पणियों का विशेष महत्त्व होता था। अनेक बार टिप्पणियाँ मूल लेख या उससे बढ़कर ज्ञानप्रद होती थी। उदाहरणार्थ- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के लेख 'उत्तर भारत के दो मांगलिक उत्सव और उनकी प्राचीन परम्परा' पर सम्पादकीय टिप्पणी, एक स्वतंत्र लेख सी प्रतीत होती है -

संसार के सभी प्राचीन देशों में जहाँ कृषि के साथ सभ्यता का विकास हुआ, शक्रोत्सव अथवा दूर्वाष्टमी जैसे उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाये जाते रहे हैं। सस्य और वनस्पति को एक ऐसे देवता के रूप में पूजते थे, जो ग्रीष्म में तो नाश को प्राप्त होता है या कहीं चला जाता है और बसंतागमन पर पुनः पृथिवी के गर्भ से फूटकर जन-मन को आनन्दित करता है। उसके इस पुनरागमन पर हर्ष प्रकट किया जाता था और उसका नाट्याभिनय होता था, जिसका कि लोक-जीवन में धार्मिक महत्त्व था। बेबीलोनिया के सस्य-देव ताम्भुज के विषय में कल्पना की गई है कि वे प्रति वर्ष ग्रीष्म के प्रकोप से पाताल में प्रवेश कर जाते हैं। उनकी प्रेयसी इशतार - जो कि महीमाता का रूप है - उनका अनुगमन करती हैं और जब तक वे धरती के नीचे रहती थीं, तब तक न तो फूल खिलते थे और न प्रकृति में प्रजनन-क्रिया का प्रसार ही होता था। इन सस्य-देवता के पाताल प्रवेश पर पुनः दुःख प्रकट किया जाता था। शोक के गीत गाये जाते थे। लोग छाती पीटकर रोते थे। उसके पश्चात् वसंत ऋतु में वे पुनः एक शिशु के रूप में अवतरित होते थे, तब लोक-जन के लिए यह फिर हर्ष और आनन्द का विषय बनता था। ताम्भुज के इस उत्सव को प्राकृतिक शक्तियों के पर्याय-क्रमिक विश्राम और जागरण की वही धारणा मौजूद है, जो हमारे यहाँ की देवशयनी और देवोत्थानी एकादशी के मूल में देखने को मिलती है।

मिस्र के सस्य-देवता ओसिरिस थे। सोने के साँचे में ढालकर इनकी मिट्टी और रेत की मूर्तियाँ बनती थीं। उत्सव के दिन इस मूर्ति को धरती में गाड़ देते थे और गत वर्ष की गड़ी हुई मूर्ति को बाहर निकाल लेते थे। अभिप्राय था कि मृत सस्य-देवता फिर सबको आनन्द देने के लिए जीवित हो उठे हैं। आश्चर्य की बात है कि छामडिया देव की पूजा में जो कल्पना निहित है, ओसिरिस की पूजा उससे बहुत कुछ मिलती है। उत्सव के समय एक बड़े बर्तन में, जो धारित्री के विशाल गर्भ का अथवा 'उद्यान' का द्योतक था,

जौ और मिट्टी मिलाकर भर देते थे और उसे नील नदी के जल से सींचते थे। यह क्रिया पुरोहितों और धर्म-याजकों की उपस्थिति में विधि-पूर्वक सम्पन्न होते थे। इस तरह आठ-दस दिन में जौ उग उठते थे। उनके उगने का अर्थ था कि देवता प्रसन्न हो रहे हैं। वैदिक इन्द्र का प्रतिद्वन्दी जिस तरह वृत्र है, उसी तरह ओसिरिस का शत्रु सेट (मज) था, जो ग्रीष्म के प्रखर तेज का प्रतीक जान पड़ता है।

‘ताम्बुज का एक दूसरा रूप एडोनीस था। रोम, ग्रीस, असीरिया आदि देशों में जिसका उत्सव मनाया जाता था। मिट्टी या धातु के बर्तनों में जौ, गेहूँ, सन, राई आदि बीज बोते थे और आठवें दिन जब कि पात्र लहलहाते हुए सस्य से परिपूर्ण हो जाते थे, तब उनको गाजे-बाजे के साथ नदी या तालाब के जल में जाकर छोड़ आते थे। ये पात्र ‘एडोनीस के उद्यान’ कहलाते थे। हमारे यहाँ चैत्र और कार्तिक के शुक्ल पक्ष में ज्वारों का जो उत्सव होता है, उसमें और एडोनीस के इन ‘बगीचों’ में इतना कम अन्तर है कि उनकी निकट समानता रोचक ही नहीं, अतीव महत्त्वपूर्ण और विचारणीय हो जाती है। विषय को पूरा करने के लिए ज्वारों का अलग से विवरण दिया गया है, जो कि हमें तालबेहट के श्री रामस्वरूप जी से प्राप्त हुआ है। प्राचीन देशों में प्रायः सभी जगह सस्य-देवता या महीमाता के उद्देश्य से इसी प्रकार धान्य अंकुरित किये जाते थे, जिनका लोगों की धार्मिक भावना के साथ कुछ अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसे समझने की आवश्यकता है।

इन्द्रयज्ञ का उत्सव बुन्देलखण्ड में नहीं होता। पर उसके स्थान पर आषाढ़ के महीने में देवशयनी एकादशी को गाँव के सब देवी-देवताओं की पूजा होती है। स्त्रियाँ पूड़ी, पकवान लेकर गाजे-बाजे के साथ गाँव की परिक्रमा करती हैं और मार्ग में जितने देवता मिलते हैं, उन सबको पूजती हैं। यह इन्द्र-जग्य का ही एक रूप जान पड़ता है।

‘श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण के समय में ब्रज में इन्द्र का उत्सव मनाया जाता था, पर उन्होंने उसके स्थान पर गोवर्द्धन की पूजा प्रतिष्ठित की, जो कि गो-वंश के रक्षक और पोषक गिरि-वनों की पूजा का ही एक प्रतीक है।

‘जैन-ग्रन्थों में इन्द्रध्वज पूजा का विधान मिलता है। पर लोक-जन द्वारा इन्द्र की पूजा उसका उद्देश्य नहीं है। बल्कि स्वयं

इन्द्रादि देवता कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्त में आठ दिनों में नंदीश्वर द्वीप जाकर जैन-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं। यही इन्द्रध्वज पूजन है।

‘दूर्वाष्टमी को हमारे यहाँ गड़ालेनी आठें कहते हैं। उस दिन महालक्ष्मी व्रत प्रारम्भ होता है। स्त्रियाँ दूर्वा के सोलह कुंडा बनाकर नदी या तालाब में स्नान करने जाती हैं। वहाँ दूब के एक-एक कुंडे के साथ एक-एक लोटा जल सिर पर डालती हैं। इस प्रकार सोलह बार करती हैं। तत्पश्चात् घर आकर पंडित से कच्चे सूत का एक गंडा बनवाती हैं, जिसमें सोलह गाँठें लगती हैं। ये गाँठें संभवतः पूजा के सोलह दिनों की स्मारक हैं। डॉ. अग्रवाल ने अपने यहाँ की जिस पूजा का विवरण दिया है, उसमें भी सोलह सीकें खड़ी करने का उल्लेख है। अतएव जान पड़ता है कि उस पूजा का भी सोलहवें दिन समाप्त होने वाली महालक्ष्मी की पूजा से कुछ सम्बन्ध है। गंडे की सोलह दिन तक नित्य पूजा होती है। पुँवार बदी अष्टमी को व्रत का उद्यापन होता है। कुम्हार के यहाँ से मिट्टी का हाथी बनकर आता है, जो गजलक्ष्मी का प्रतीक है। विधिवत् पूजा होती है। उसी के पास वह गंडा भी रक्खा जाता है। पूजा के लिए यदि पण्डित आया तो वह लक्ष्मी-पूजन की एक लम्बी कथा कहता है, अन्यथा स्त्रियाँ सोलह-बोल की निम्नलिखित कहानी कहकर पूजा समाप्त करती हैं-

‘आमोती दामोती रानी, पोला परपाटन गाँव, मगरसेन राजा, बम्भन बरूआ कयें कहानी, सुनो हो महालक्ष्मी रानी, हमसे काते, तुमसे सुनते, सोलह बोल की जई कहानी।’

‘इन सब पूजाओं की परम्परा निसंदेह बहुत प्राचीन है। उन सबका मूल उद्देश्य वही है, जिसका डॉ. अग्रवाल ने अपने लेख में इतने विशद रूप से विवेचन किया है। वे सब किसी एक स्थान पर विकसित हुईं और लोक-जन के प्रवाह के साथ दूर-दूर तक फैलीं। देश और काल की स्थिति के अनुसार उनके नाम और रूप बदले। परन्तु हम सहज में एक ऐसे युग की कल्पना कर सकते हैं, जबकि सिंधु उपत्यका से लेकर मिस्र और भूमध्य-सागर के पूर्वी तटों के समस्त प्रदेशों में एक ही सभ्यता और एक ही प्रकार के धार्मिक विश्वासों का अटल साम्राज्य रहा होगा। मातृ-देवी के रूप में धरती की पूजा प्रचलित थी और उसकी कोख से उत्पन्न होने वाले सस्य एक ऐसे देवता थे, जो प्रतिवर्ष मृत्यु को प्राप्त होकर

पुनः जन्म लेते थे। धरती सत्यदेव की माता भी थीं, पत्नी भी थी और कभी-कभी पुत्री भी। धरती माता या महामाई शाश्वत और चिरंतन थीं, चिर-निर्मल और चिर-प्रसन्न देवों की मृत्यु होती थी, परन्तु देवी अमर थीं। हम कह सकते हैं कि महामाई की पूजा के साथ एक और पूजा प्रचलित रही होगी, जिसे 'देवों के पुनर्जन्म' की पूजा का नाम दिया जा सकता है।'

इस पत्रिका को देश-विदेश में जितना सराहा गया, उसकी एक झलक पाठकों की निम्नांकित सम्मतियों में देखी जा सकती है-

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् तथा प्राविंसियल म्यूजियम, लखनऊ के क्यूरेटर डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा था - 'इस प्रकार के आयोजन की बड़ी भारी आवश्यकता है। लोक के बहुमुखी जीवन के प्रति इस समय जो चारों ओर जागरूकता का भाव दिखाई पड़ता है, उसको मूर्तिमंत रूप देने और उत्तेजित करने के लिए एक इस प्रकार के पत्र की काफी गुंजाइश है। इस कार्य के पीछे यदि पर्याप्त अवकाश वाले कार्यकर्ता होंगे और आर्थिक साधन भी दृढ़ होकर तो मुझे आशा है कि वर्तमान काल के उपयुक्त अवसर को पाकर यह आन्दोलन विशेष उन्नति करेगा।

भाषाशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा था - यह पत्रिका समस्त भारतीय भाषाओं की पत्रिकाओं में निराली और अनोखी है। भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के मानद सचिव आर.एन. दण्डेकर ने 'भारतीय विद्याशास्त्र के क्षेत्र में एक दीर्घकालीन रिक्ति पूर्ति' की संज्ञा दी थी। डॉ. सम्पूर्णानंद ने लिखा था- 'ऐसी पत्रिका प्रत्येक जनपद में प्रकाशित होनी चाहिए।' डॉ. वैरियर एल्विन ने लिखा था- इस शानदार उद्यम के लिए बधाई, इससे संबद्ध होने से मैं गर्व का अनुभव करता हूँ। माधवराव विनायक किवे- इंदौर ने लिखा था- 'यह आपका प्रयत्न अत्यन्त महत्त्व का होकर ज्ञान-वर्द्धक है। यह मौलिक है एवम् उपकारक है।' रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा के शब्दों में- हिन्दी में अब तक ऐसा कोई शब्द नहीं था, जिससे जनता के रहन-सहन, उत्सवों, संस्कारों आदि के विषय में समुचित अध्ययन किया जा सकता। इससे हिन्दी साहित्य के ऐसे अंग की पूर्ति होगी, जिस पर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया है।' यशपाल जैन के शब्दों में- यद्यपि कुण्डेश्वर एक छोटा सा

स्थान था, लेकिन 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' के द्वारा जो प्रेरणाएँ दी गईं, वे बहुत ही व्यापक थीं।

उपन्यास सम्राट वृन्दावन लाल वर्मा ने लिखा था - 'लोकवार्ता नाम बहुत नम्र है। वास्तव में इसका क्षेत्र उतना सीमित नहीं है, जितना इसके समानार्थी अंग्रेजी अनुवाद 'फोकलोर' से सामान्यतया प्रकट होता है। 'फोकलोर' अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बहुत व्यापक था, परन्तु जब से नृ-शास्त्र और समाजशास्त्र को विज्ञान में अपना अलग पद मिल गया है, उससे 'फोकलोर' कुछ सीमित हो गया है। परन्तु 'लोकवार्ता' व्यापक और विस्तृत थी। उसमें नृशास्त्र, समाजशास्त्र और यहाँ तक कि मनोविज्ञान की भी चर्चा का उचित अवसर मिलता रहा।'

लोक साहित्य एवं संस्कृति के मनीषी डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार - अपने अल्पकालीन जीवन में ही इस पत्रिका ने बड़ा उपयोगी कार्य किया। इसने हिन्दी जनता में मानव विज्ञान तथा लोकवार्ता शास्त्र संबंधी रुचि पैदा की और अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों द्वारा इस शास्त्र का बड़ा प्रचार किया। यह हिन्दी की अपने ढंग की अनोखी तथा एक मात्र पत्रिका थी।

उन्होंने एस० डब्लू० फैलन द्वारा संपादित कोश को हिन्दी में 'हिन्दुस्तानी कहावत कोश' नाम से अनूदित करके नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित कराया। इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए।

वह 'बुन्देली शब्द कोश' का भी संपादन अन्तिम समय तक करते रहे। उनकी कोशिश इसे पूर्ण तथा दोष रहित बनाने की थी। किन्तु वह सपना उनके जीवनकाल में पूरा नहीं हो सका। उसके बाद प्रो. डॉ. सरोज गुप्ता (सागर) का प्रयास रहा कि वे इसे नए संपादित रूप में प्रकाशित कराएँ, उसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

कुछ लोग गुप्त जी को लोक कवि ईसुरी की खोज का श्रेय देते हैं। यह बात तथ्यों के विपरीत है। ईसुरी की खोज का वास्तविक श्रेय जुझौतिया प्रेस मऊरानीपुर के मालिक पं० बल्देव प्रसाद विरथरिया को जाता है, जिन्होंने लोक कवि ईसुरी को खोजकर 1905 ई. में उनका प्रथम फाग संग्रह प्रकाशित किया। तब कृष्णानंद जी की आयु मात्र दो वर्ष की थी। कृष्णानंद जी कुण्डेश्वर-प्रवास के दौरान लोकवार्ता-परिषद के माध्यम से कराये गये फाग-संग्रह

अभियान से प्राप्त फागों को 1942 से 1957 के दौरान 'ईसुरी की रजऊ विषयक फागों' तथा 'ईसुरी की नेत्र विषयक फागों' नामक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित कराईं। 'मधुकर' तथा लोकवार्ता में भी ईसुरी पर उन्होंने अनेक लेख लिखे। इस प्रकार ईसुरी की खोज को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण प्रयास किया। 1957 में उन्होंने राठ निवासी दीवान शत्रुघ्न सिंह के साथ मिलकर 'ईसुरी स्मारक समिति' की स्थापना की थी। इस समिति ने ईसुरी के निधन स्थल ग्राम धवार में एक स्मृति समारोह भी आयोजित किया था। डॉ. हरिवंश राय बच्चन जी ईसुरी से काफी प्रभावित थे, उन्होंने स्वयं कुछ फागों लिखी थीं। वह कृष्णानंद जी के इस संदर्भ में प्रशंसक भी रहे। वह ईसुरी के समस्त फाग संग्रह के प्रकाशन तथा उन पर प्रमाणिक पुस्तक की आवश्यकता अनुभव करते थे।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना भी प्रासंगिक है कि ओरछेश की इच्छा थी कि 'बुन्देली विश्वकोश' का निर्माण तथा सम्पादन हो। इस योजना के संयोजन का दायित्व भी कृष्णानंद जी को दिया गया। ओरछा राज्य की ओर से इस योजना का व्यापक प्रचार-प्रसार भी किया गया, किन्तु यह कार्य गति नहीं पकड़ सका।

श्री गुप्त जी को उनके साहित्यिक योगदान हेतु अनेक बार सम्मानित किया गया। इनमें उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का

'मैथिलीशरण गुप्त नामित पुरस्कार', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जन्म-शताब्दी समारोह (1986) में राष्ट्रपति द्वारा चिरगांव में अलंकरण, डी०वी० कालेज उरई की हिन्दी साहित्य परिषद द्वारा 'बुन्देलखण्ड साहित्यकार सम्मान समारोह' (1970) में सम्मान तथा अ०भा० गहोई वैश्य महासभा अधिवेशन (1971) में सम्मान प्रमुख है। साप्ताहिक भारती झाँसी ने उनके सम्मान में लोकसंस्कृति विशेषांक तथा कृष्णानन्द गुप्त अभिनंदन अंक प्रकाशित किया था। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय, भोपाल ने अपनी 'पत्रकारिता के युग निर्माता' पुस्तक माला के अन्तर्गत 'कृष्णानन्द गुप्त' नामक पुस्तक प्रकाशन नई दिल्ली के माध्यम से प्रकाशित की है। इस मोनोग्राफ को यशस्वी पत्रकार मूलचन्द्र अग्रवाल के साथ जोड़कर 'मूलचन्द्र अग्रवाल, कृष्णानन्द गुप्त' (2013) नाम से एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया है। संयोगवश, मुझे उक्त पुस्तक के लेखन का दायित्व सौंपा गया था। उक्त पुरस्कारों तथा सम्मानों के आयोजन में भी, विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से निमित्त बनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

लोक साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में कृष्णानन्द जी का उक्त योगदान अप्रतिम, प्रेरक तथा उल्लेखनीय है। उनका सश्रद्धा स्मरण तथा उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि।

## मालवी लोकसाहित्य के अध्येता

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

लोकसाहित्य के हिन्दी क्षेत्र में कई मनीषियों ने सघन कार्य किया है और कुछ ने अन्य काम करते हुए इस ओर भी जैसे अपनी कृपा दृष्टि डाल दी है। ऐसे मनस्वी अन्य क्षेत्र में प्रसिद्ध थे। पर चलते-चलते इधर भी टिप्पणी करने पर भी अग्रणी लोकवेत्ता माने जाने लगे। 'ग्राम गच्छंस्तृणं स्पृशति' गाँव जाते हुए मार्ग के घास को भी छू लिया। मुख्य लक्ष्य ग्राम जाना था। तिनके को तो यूँ ही छू लिया, पर इतने पर भी वह तिनका इठलाने लगे। अपना भाग्य सराहने लगे तो उसकी मरजी।

प्रसिद्ध कवि रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी के कवि तो थे ही, ग्राम गीत के संकलन-संपादन का उन्होंने पहली बार निष्ठापूर्वक व्यापक प्रयास किया और वह धारा चल पड़ी। परन्तु उनसे बहुत पहले 19 वीं सदी के अंत में रायबहादुर डॉ. हीरालाल ने जो इस ओर प्रयास किया, वह समय से आगे की सोच थी। एक शताब्दी पूर्व के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने एक निबंध में डॉ. हीरालाल की लोक साहित्य सेवा को रेखांकित करते हुए जो लिखा, वह रेखांकन योग्य है- उन्होंने (हीरालाल जी ने) मध्यप्रदेश में बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषाओं के ग्रामोफोन के रेकार्ड भी भरवाये थे, जो न केवल कालांतर में उन बोलियों के वर्तमान रूप बताने में सहायक होंगे, बल्कि अन्य प्रदेश वालों के लिए भी वे इस समय में मनोरंजन का उत्तम साधन हैं। कहना न होगा कि इस प्रयत्न द्वारा माननीय डाक्टर साहब ने एक नवीन दिशा में मार्गदर्शन का कठिन कार्य सम्पन्न किया।

सुप्रसिद्ध पुराविद् और साहित्यमर्मज्ञ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी यों तो लोकसम्बन्धी विभिन्न लेख लिखे, परन्तु उनकी पुस्तक 'भारत के प्राचीन लोकधर्म' अपने क्षेत्र में अद्वितीय पुस्तक है। राहुल सांस्कृत्यायन ने हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास का लोकसाहित्य सम्बन्धी सोलहवें खण्ड का सम्पादन किया।

मध्यप्रदेश के मालवा की लोकभाषा मालवी प्रायः दो हजार वर्षों से विकसित हो रही है। आवंती और पैशाची प्राकृत से विकसित यह लोकभाषा मालवा के साथ ही राजस्थान, गुजरात आदि के सीमावर्ती क्षेत्रों सहित 22 जिलों के प्रायः दो करोड़ निवासियों की जीवन भाषा है। बोलचाल की इस भाषा के सम्यक् अध्ययन और उसके लोकसाहित्य के संकलन- अनुवाद के साथ ही भाषा में देशी-विदेशी महत्त्वपूर्ण साहित्य भी अनूदित हुआ है। लोकनाट्य माच शताधिक मात्रा में रचे गये और प्रायः शताब्दी से जनता का शिक्षाप्रद मनोरंजन कर रहे हैं। मालवी में मौलिक तथा अनूदित नाटक भी समय पर प्रस्तुत होते रहते हैं।

मालवी लोकसाहित्य की जड़ें गहरी और व्यापक हैं। उसमें शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, कहावतों, पारसियों (पहेलियों), कथाओं, व्रतकथाओं, गीतों, भजनों, लोकगाथाओं सहित विभिन्न विधाओं का प्रचुर साहित्य लोककण्ठों में संचरित हो रहा है। उस अमूल्य साहित्य को संकलित करने का विधिवत् बीड़ा उठाया गया स्वतंत्रता के बाद। उससे पूर्व हल्के-फुल्के प्रयास ही किये गये। इस कार्य को एक के बाद एक कई मनीषियों द्वारा किया जाता रहा।

मंदसौर के पास प्रतापगढ़ के रतनलाल मेहता की पुस्तक 'मालवी कहावतें' उदयपुर से प्रकाशित हुई। उसके बाद डॉ.

श्याम परमार, नरेन्द्र धीर और बसंतीलाल बम ने व्यापक सघन सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न किया। उनमें से श्याम परमार ने मालवी लोकसाहित्य सम्बन्धी कई पुस्तकें प्रकाशित करवायीं और मालवी को राष्ट्रीय फलक प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बसंतीलाल बम ने लोकगाथाओं पर अपना शोधप्रबंध तैयार किया जो अब तक अप्रकाशित ही है। उन्होंने मालवी-निमाड़ी स्मारिका का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी करवाया था। तभी डॉ. चिंतामणि उपाध्याय ने मालवी लोकसाहित्य समीक्षा की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने लोकगीत, मालवी भाषा लोकायन सम्बन्धी कई पुस्तकें प्रकाशित करवायीं।

सुसनेर के डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी मालवी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में उभरे। उनका शोधप्रबंध मालवी लोककथा पर है। परन्तु उन्होंने मालवी व्याकरण, मालवी की एक उपबोली सोंधवाड़ी आदि पर भी प्रामाणिक सामग्री प्रकाशित करवायी। उनका और मेरा संयुक्त मालवी शब्दकोश प्रकाशित हुआ। डॉ. जोशी ने मालवी लोकसाहित्य का प्रचुर संकलन किया, जिसमें से कुछ प्रकाशित और बहुधा अप्रकाशित है। वह प्रचुर साहित्य प्रकाशित हो जाने से मालवी जगत् तथा लोकसाहित्य का महत् उपकार होगा। उनके द्वारा संकलित- संपादित कतिपय कथाएँ, मुहावरे, कहावतें आदि तो प्रकाशित हुए, परन्तु उनका प्रचुर साहित्य अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा है।

इस प्रकार मालवी के क्षेत्र में अनेक मर्मज्ञों ने प्रचुर सर्वेक्षण-अध्ययन किया है, सतत् अनेक विद्वान अध्येता इस कार्य को करते भी जा रहे हैं।

## पं. रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में लोक

डॉ. संध्या द्विवेदी

द्विवेदी युगीन स्वच्छन्द धारा के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी वह नाम है, जिन्होंने आधुनिक साहित्य की मजबूत बुनियाद भरने में अभूतपूर्व योगदान दिया। गाँधीवादी विचारों के पोषक तथा लोक जीवन के रंगों से रंगे त्रिपाठीजी का साहित्य राष्ट्रप्रेम, प्रकृति-प्रेम, ग्राम प्रेम तथा सांस्कृतिक आध्यात्मिक मूल्यों से बँधा दिखाई पड़ता है। उनका काव्य पौरुष का काव्य है।

बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न रामनरेश त्रिपाठीजी का जन्म फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी सं. 1946 वि. को जौनपुर जिले के कोदूरीपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामदत्त त्रिपाठी था, जो भगवद् प्रेमी थे। अधिकांश समय उनका धार्मिक कार्यों में ही बीतता था, उनका पैतृक व्यवसाय खेती-बाड़ी थी, अचल सम्पदा के नाम पर कुछ भूमि थी। एक किसान का जीवन हमेशा अभावों में ही बीतता है, अपने अभावों को वे स्वयं उल्लेखित करते हैं- 'घर में एक बैल था। दूसरा बैल पड़ोसी का लेकर हरसझा कर लेते थे। जिस दिन पड़ोसी का बैल नहीं मिलता, उस दिन हेंगा (सरावन) में मेरे मझले भाई जो मुझसे दस वर्ष बड़े थे, कंधा लगा देते थे।'<sup>1</sup>

घर की स्थिति ठीक न होने के कारण वे बिना बताये कलकत्ता चले गये। और वहाँ अनेक समस्याओं का सामना करते हुए कर्मों पर विश्वास करने वाले त्रिपाठी जी ने, गरीबी को अमीरी में बदल दिया। उनका सिद्धांत था 'न दैन्यं न पलायनम्'। अथक

परिश्रम के कारण वहाँ उनका निरंतर स्वास्थ्य गिरता गया और अंत में डाक्टरों ने यह कह दिया कि पन्द्रह दिनों से अधिक आप जी नहीं सकेंगे। तब एक राजस्थानी सज्जन का पत्र लेकर ये राजस्थान पहुँचे और बाजरे की रोटी, मट्ठे के सेवन से कुछ दिनों में भले-चंगे हो गये।

त्रिपाठीजी जन्मजात साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अपने अध्ययन के द्वारा अपनी साहित्यिक सेवाओं का जो सुंदर महल खड़ा किया, उसकी चमक कभी भी फीकी नहीं हो सकती। वे लिखते हैं- 'जब मैं दर्जा चार में पहुँचा, तब गाँव के मदरसे में हिन्दी बंगवासी (कलकत्ता) और हिन्दी केसरी (नागपुर) दो ही पत्र आते थे। घर के पास एक महाजन का चीनी का कारखाना था। जाड़े के दिनों में उसके भट्टे के पास आग तापने के लिये बहुत से लोग जमा हो जाते थे। उन दिनों रूस, जापान की लड़ाई चल रही थी। हिन्दी, बंगाली पढ़कर लड़ाई की खबरें बताने के लिये मैं बुला लिया जाता था। 'हिन्दी केसरी' एक महाजन के लड़के के पास आया करता था।<sup>2</sup>

अध्ययन पिपासा के कारण उन्होंने अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया। चौथी कक्षा से ही सवैया, घनाक्षरी आदि का सृजन करने लगे थे। एक बार जब वाणी के वरद पुत्र को सरस्वती का वरदहस्त प्राप्त हो गया, तो उन्होंने फिर रुकने का नाम नहीं लिया। सबसे पहले हिन्दी में महाभारत लिखा, जिसकी बहुत प्रशंसा हुई। ऋषिकुल और गुरुकुल के ब्रह्मचर्याश्रमों ने उसे पाठ्यक्रम के रूप में अपना लिया था। वहीं पर उन्होंने एक प्रार्थना लिखी, जिसमें आत्म-निवेदन की उदात्त भावना मुखरित होती है, यह सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेशों में प्रार्थना के रूप में गायी जाती है-

हे प्रभो आनंद दाता ज्ञान हमको दीजिये।  
शीघ्र सारे दुर्गणों को दूर हमसे कीजिये।।  
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बने।  
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक, वीर व्रतधारी बने।।<sup>3</sup>

पिता के देहावसान के बाद त्रिपाठीजी स्थायी रूप से प्रयाग आ गये। उस समय प्रयाग, साहित्य और राजनीति का गढ़ माना जाता था। त्रिपाठीजी भी इन सबसे कैसे अछूते रहते। वे भी

आन्दोलनों में अपना सक्रिय योगदान देने लगे। इसके लिये उन्हें जेल तक जाना पड़ा। पर जैसे ही जेल से बाहर आये, फिर वे साहित्य सेवा में लग गये। साहित्यिक और राजनीतिक आन्दोलनों से उनका बराबर का नाता रहा है- 'मेरे जीवन के सुदरतम अंग वे हैं, जिनमें भारत के महान नेताओं के सम्पर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं जब गाँव के स्कूल में पढ़ता था, उन दिनों भारत को स्वाधीन करने की एक हल्की सी गूँज हवा में सुनाई पड़ती थी, जिसकी न कोई रूप-रेखा थी। न यह बताया जाता था कि स्वाधीनता प्राप्त कैसे होगी।'

सन् 1941 में जब साहित्य के क्षेत्र से उन्होंने संन्यास ले लिया, तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। पं. पदमसिंह 'कमलेश' ने जब उनसे संन्यास के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा कि 'संन्यास मैंने लिया है, पर मेरी हालत उस दीवाने की सी है, जिसके विषय में किसी शायर ने कहा है-

घर में लगता नहीं, सहरा से घबराता है दिल,  
फिर कहाँ वे जा के रखें, ऐसे दीवाने को हम।।

त्रिपाठीजी रामकथा के अनन्य भक्त थे। उनकी 'मानस की वृहत टीका' तथा 'तुलसीदास और उनकी कविता' इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। त्रिपाठीजी के रचना संसार का फलक अत्याधिक व्यापक है। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं पर साधिकार पूर्वक लेखनी चलाई है। वे कवि, नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार, कोशकार, टीकाकार, आलोचक, सम्पादक, बालसाहित्यकार, संग्राहक, राजनीति एवं ग्राम जीवन संबंधी लेखन मोर्चों पर सदैव तैयार रहे।

रामस्वरूप चतुर्वेदीजी लिखते हैं - 'रामनरेश त्रिपाठी का कृतित्व अपने समय के संदर्भ में बहुमुखी है। वे मूलतः कवि हैं, ग्रामगीतों के संकलन का आरंभिक कार्य उन्होंने किया'। 'कविता कौमुदी' नाम से कई जिल्दों में हिन्दी-उर्दू, बांग्ला आदि काव्य धाराओं का आलोचनात्मक सामग्री के साथ संकलन सम्पादन किया। गद्य के क्षेत्र में, तुलसीदास और उनकी कविता पर विशद आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। महामना मदनमोहन मालवीय की संस्मरणात्मक जीवनी लिखी है और बाल-साहित्य के क्षेत्र में विशद कार्य किया है।<sup>5</sup>



सरस्वती पत्रिका से प्रभावित होकर त्रिपाठीजी खड़ी-बोली की ओर उन्मुख हुए। इनके चार काव्य संग्रह हैं- मिलन (1917), पथिक (1920), मानसी (1927), स्वप्न (1929)। मिलन, पथिक, स्वप्न ये तीनों प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य हैं। इसके साथ-साथ देशभक्ति का जो स्वर मुखरित हुआ है, वह अत्यधिक प्रभावशाली है। मानसी में फुटकर कविताओं का संकलन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने तीनों खण्डकाव्यों के विषय में लिखा है- 'मिलन, पथिक और स्वप्न नामक इनके तीनों खण्डकाव्यों में इनकी कल्पना ऐसे कर्मपथ पर चलती है, जिस पर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावतः चलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँधकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छंद संचरण के लिये कवि ने नूतन कथाओं की उद्भावना की है।' कल्पित आख्यानों की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छंद मार्ग का अभिलाष सूचित करता है। इन प्रबंधों ने नर- जीवन जिन रूपों में ढालकर सामने लाया गया है, ये मनुष्य मात्र का मर्म स्पर्श करने वाले हैं तथा प्राकृतिक स्वच्छंद और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।<sup>6</sup>

हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास में बच्चन सिंह ने भी लिखा- 'मिलन में विदेशी शासन से देशोद्धार, पथिक में उपनिवेशवाद के एकतंत्र से मुक्ति तथा 'स्वप्न' में विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षा का भाव व्यंजित है।'<sup>7</sup>

त्रिपाठीजी ने वास्तविक प्रेम को ही सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। सच्चे प्रेम का चित्रण करते हुए लिखा है-

सच्चा प्रेम वही है जिसकी  
तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर।  
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है  
करो प्रेम पर प्राण निछावर ॥  
देश प्रेम वह पुण्य प्रेम क्षेत्र है  
अमल असीम त्याग से विलसित  
आत्मा के विकास से जिसमें  
मनुष्यता होती है विकसित।<sup>8</sup>

प्रकृति के सौन्दर्य के कुशल चितरे भला प्रकृति से कैसे

दूर हो सकते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का लगभग भ्रमण किया तथा प्रकृति की जो मनोरम छटा उनके खण्ड काव्यों में दिखाई पड़ती है, वह अन्यत्र मिल पाना दुर्लभ है। प्रकृति की झाँकी का एक सुंदर मनोरम उदाहरण-

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला।

रवि के सम्मुख थिरक रही है, नभ में वारिद माला ॥<sup>9</sup>

त्रिपाठीजी केवल समाज के आलोचक ही नहीं, वरन् साहित्य जगत में भी आलोचक के रूप से प्रतिष्ठित हैं। इस विधा में 'तुलसीदास और उनकी कविता' सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई। इसमें त्रिपाठीजी ने मन तथा बुद्धि दोनों ही तत्त्वों का कुशल ढंग से समावेश किया है। त्रिपाठीजी महापुरुषों पर लिखने से पूर्व उनपर व्यवस्थित रूप में सामग्री एकत्र करते थे।

'इस पुस्तक में मालवीयजी के साथ बिताये कुछ दिन स्वयं रहकर और उनके मुख से बातें सुनकर तथा दूसरों से उनके बारे में बातें पूछकर और कुछ कागज-पत्र के सहारे इस पुस्तक में मेरे मित्र श्री रामनरेश त्रिपाठी ने जो रोचक एवं सुंदर चित्रण उनका किया है, उसके लिये वे हमारी कृतज्ञता के अधिकारी हैं।'<sup>10</sup>

त्रिपाठी जी ने अनेक विधाओं में मौलिक लेखन करने के पश्चात् जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह है सम्पादन। उन्होंने कठिन परिश्रम, लगन तथा निष्ठा से अनेक क्षेत्रीय लोकगीतों का संकलन किया। उनके द्वारा संपादित प्रमुख ग्रंथ है- कश्मीरी ग्राम गीत, मारवाड़ के मनोहर गीत, राजस्थानी भीलों के लोकगीत, कविता कौमुदी तथा हमारा ग्राम साहित्य (दो भाग) इन गीतों के संकलन के लिये उन्हें रात-रात भर जागकर सामग्री जुटानी पड़ती थी। वे कविता कौमुदी के (तीसरा भाग) में लिखते हैं- जो गीत मैंने जाति विशेष के घर पर जाकर लिखे हैं, उनके लिखने में मुझे अपने मन को बड़ी-बड़ी परीक्षा में बैठाना पड़ा। गाँव के बिल्कुल बाहर का घर है, जिसकी दीवारें लोनी से गल गई हैं। दीवारों के अंदर कंकड़, रबीस काढ़े हैं। दीवारों में सैकड़ों दरारे, छेद, बिल तथा गुफायें हैं, जिनमें छिपकलियों, मकड़ियों के सैकड़ों परिवार निवास कर रहे हैं, झोपड़ी के आसपास सुअर और उनके छोने

घूम रहे हैं। छौने कभी-कभी अंदर भी घुस जाते हैं। घर के आसपास खेत है, जो सुअर के मैला से भरे हुए हैं। पानी बरस जाने से मैला सड़कर जमीन पर फैल रहा है। उसकी बदबू से लवेंडर सूँघने वाली शहर की नाक फटी जा रही है। मैं उसी झोपड़े के द्वार पर दीवार से पीठ टेक जमीन पर बैठा एक साठ बरस की बुढ़ी से गीत लिख रहा हूँ।<sup>11</sup>

उनके संकलनों में जो लोक जीवन की झाँकी दिखाई पड़ती है, वह उनके ही संस्कारों की अभिव्यक्ति है। लोककाव्य उतना ही प्राचीन है, जितना आदिम मानव। लोक काव्य वह दर्पण है, जिसमें हम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। इसमें जीवन की आशा-निराशा, सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि सभी भावनाओं का सजीव चित्रण होता है। देवेन्द्र सत्यार्थी लोक संस्कृति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- 'कहाँ से आते हैं इतने गीत? स्मरण-विस्मरण की आँख मिचौनी से, कुछ अट्टाहास से, कुछ उदास हृदय से। जीवन के खेत में उगते हैं ये सब गीत। कल्पना भी काम करती है, रस वृत्ति और भावना, नृत्य का हिलोरा भी- पर ये सब हैं खाद। जीवन के सुख, जीवन के दुख ये लोकगीत के बीज हैं।'<sup>12</sup>

लोक साहित्य केवल लोक साहित्य ही नहीं, बल्कि लोक सभ्यता, लोक संस्कृति को सुरक्षित-संरक्षित करने का एक प्रयत्न है। त्रिपाठीजी अच्छी तरह से जानते थे कि प्राचीन संस्कृति का सत्य स्वरूप अगर कहीं देखने को मिल सकता है, तो इन्हीं गीतों में। लोकगीतों की सच्ची झाँकी हमें गाँवों के परिवेश में ही जाकर देखने को मिलेगी। तभी तो वह बार-बार चर्चा करते हुए कहते हैं - 'आओ एक बार चलकर हम अपने उस पुराने देश को देखें तो सही, जो नालों के किनारे आम के घने बागों में बसा हुआ है। जिस देश में घर-घर में चंदन के वृक्ष और दरवाजों में चंदन के किवाड़े लगे हैं, जहाँ सब लोग सोने के थालों में भोजन करते हैं, जहाँ प्रत्येक कंठ से गान निकलता है, जहाँ की चौपालों में राजनीति के जटिल प्रश्न एक-एक वाक्य से सुलझाये जाते हैं, जहाँ मनुष्य मात्र के जीवन का निर्दिष्ट लक्ष्य और निश्चित पथ है, जहाँ धर्म के बंधन में सब प्रकार की स्वतंत्रता है'<sup>13</sup>

त्रिपाठीजी की सहानुभूति गाँवों के साथ सदैव रही है। जहाँ कमाने वाला एक और खाने वाले दस। वह देहाती दुनिया अनेक रंगों से भरी निराली है। वह अपने परिवेश को कभी नहीं छोड़ सकते। जातीय गीत, सोहर, अन्नप्राशन का गीत, मुण्डन के गीत, जनेऊ गीत, विवाह के गीत, वर्षा ऋतु के गीत, कोल्हू के गीत, जाँत के गीत, व्रत-त्योहार, पूजा इन सबमें उनकी आत्मा विद्यमान है। एकात्मकता की भावना इन गीतों में कूट-कूट कर भरी होती है। अनेक कष्टों को झेलते हुए स्त्रियाँ तीज-त्योहारों और मेलों में झूम-झूमकर नाचती हुई दिखाई देती हैं। ऐसे गीत शांत या श्रृंगार रस में होते हैं-

रघुवर संग जाब, हम न अवध माँ रहबै  
जौ रघुवर रथ पर जइहैं, भुइएँ चली जाब ॥ हम... ॥  
जौ रघुवर बन फल खईहैं, फोकली बिनि खाब ॥ हम...  
जौ रघुवर पात बिछैहैं, भुइयें पीर जाब ॥ हम... ॥<sup>14</sup>

त्रिपाठीजी के ग्राम गीतों को अनेक भागों में बाँटा जा सकता है- मुण्डन गीत, जनेऊ गीत, विवाह संबंधी गीत, पुत्र कामना के गीत, ननद भाभी के झगड़े, पति परदेश गमन, नेग-बधाई, व्रत पूजा, अविवाहित कन्या के पिता की स्थिति का चित्रांकन करते गीत, परिश्रम के गीत, निःसंतान व्यक्ति का उपहास आदि अनेक गीत देखे जा सकते हैं। उनके गीतों में स्वाभाविकता और सरलता को देखा जा सकता है- जैसा कि एक विरहिणी के गीत में देखा जा सकता है-

अरे अरे कारी बदरिया तुहईं मोरि बादरि।  
बदरी! जाइ बरसहु वहि देश जहाँ पिय छाये ॥<sup>15</sup>

इसी प्रकार एक और उदाहरण है, जिसमें परदेश गये पति को काली घटा देखकर, अपनी विरहिणी स्त्री की याद आती है। वह उससे मिलने घर आता है। स्त्री द्वार बंद किये सो रही है। पति द्वार को खट-खटाता है। स्त्री पूछती है- तुम कुत्ते या बिल्ली? या ससुर के पहरेदार! पति कहता है-

ना हम कुकुर बिलरिया न ससुर पहरिया।  
धना हम अही तोहरां नयकवा बदरिया बुलायसि ॥<sup>16</sup>

एक गीत में एक कन्या ससुराल जा रही है। घर के सामने एक नीम का पेड़ है, जो उसके हाथ का लगाया हुआ है। परदेश गमन के समान नैहर से जुड़ाव एवं उसके देश की अभिव्यक्ति के लिए वह बाबा से कहती है-

बाबा निमिया क पेड़ जिनि काटेउ,  
निमिया चिरैया बसेर-बलैया लेउँ बीरन ॥ 1 ॥  
बाबा बिटियउ जिनि केउ दुख-देउ  
बिटिया चिरैया की नाई बलैया लेउँ बीरन ॥ 2 ॥  
सब रे चिरैया उड़ि जईहैं,  
रहि जइहैं निमिया अकेलि- ॥ 3 ॥  
सब रे बिटियवा जइहैं सासुर  
रहि जइहैं माई अकेलि ॥ 4 ॥

गाँव गीतों में सोहर का भी अपना महत्त्व है। इसे कहीं-कहीं पर सोहिलों भी कहा जाता है। सोहर गीतों में स्त्री का पूर्ण अधिकार बना हुआ है। इन गीतों को पुत्र के जन्म के अवसर पर गाया जाता है, जिनमें राम या भगीरथ जैसे पुत्र की कामना की जाती है-

गंगा ! गहबीर पिअरी चढ़उबै होरिल जब होइहैं हो ।  
मैया ! देहु भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो ॥<sup>18</sup>  
कहीं-कही पुत्र न होने का भी दुख व्यक्त किया गया है -  
चलहु न सखिया सहेलरि जमुनहि जाइय हो ।  
जमुना कै निर्मल नीर कलस भरि लाइय हो ॥ 1 ॥  
केऊ सखी जल भरैं केऊ मुख धोबइ से ।  
केऊ सखी ठाढ़ी नहाइँ जिया एक रोवइ हो ॥ 2 ॥  
की तुहें सासु ससुर दुख की नैहर दूरि बसै ।  
बहिनी ! की तुमरा कंत विदेस कवन दुख रोवइ हो ॥ 3 ॥  
ना मोहें सासु-ससुर दुख ना नैहर दूरि बसै ।  
बहिनी न मोरा पिया परदेश कोरि दुख रोवऊँ हो ॥ 4 ॥<sup>19</sup>

इस प्रकार अन्नप्राशन के गीत, मुण्डन गीत, जाँत के गीत ऐसे अनेक गीतों को सजाया है।

जाँत के गीत, श्रम गीत होते हैं, जो आटा पीसने की चक्की अथवा जाँत के माध्यम से अन्न पीसने के समय गाये जाते हैं,

अन्न पीसने का समय रात का तीसरा पहर होता था। जाँत के दोनों ओर स्त्रियाँ आमने-सामने बैठकर अन्न पीसती थी और इस प्रकार के गीत गाती थीं -

बदरिया झिमकट आवै मोरे राजा ।  
साँझ भई दिया बाती की बिरिया,  
राजा दुहावै लागे गइया, मैं जेवना बनावउँ  
मोरे राजा ॥ 1 ॥  
आधी रात चपरसिया क फेरा  
राजा बिछावयँ सुख सेजा, मैं जँटवा बहारौ  
मोरे राजा ॥ 2 ॥  
भोर भये चुहचुहिया जो बोलै,  
राजा सँवारै सिर पागा,  
मैं जाते पर जूझन लागउँ  
मोरे राजा ॥ 3 ॥<sup>20</sup>

त्रिपाठी जी को दुख है कि भौतिकवादी जीवन ने हमें जकड़ लिया है, जिसके कारण हम अपनी ही संस्कृति से दूर भागते जा रहे हैं। 'अन्न पीसने वाली चक्की हमारे जाँत के गीतों को भी पीसती जा रही है। मदरसे, किसानों और धोबियों के गीतों को चुपचाप चाटते जा रहे हैं। कन्या पाठशालायें, नीरस लक्ष्यहीन, प्रभाव रहित, निर्जीव हृदय को स्पर्श न करने वाली तुकबन्दियों से कन्याओं को उनके मधुर उपदेश प्रद और लय विशिष्ट गीतों से दूर घसीटे जा रही हैं और हम चुपचाप बैठे टुकुर-टुकुर ताक रहे हैं।'<sup>21</sup>

ग्राम गीतों की उत्पत्ति के विषय में वे लिखते हैं- 'ग्राम गीतों का जन्म स्थान गाँव है, जिनकी वाणी में मस्तिष्क नहीं, हृदय है जिनके विनय के परदे छल नहीं, पश्चाताप है, जिनकी मैत्री के फूल में स्वार्थ का कीट नहीं, प्रेम का परिमल है, जिनके मानस जगत में आनंद है, सुख है, करुणा है... प्रकृति के वे ही गान ग्राम गीत हैं।'<sup>22</sup>

त्रिपाठीजी ने अपने अथक प्रयासों से लोकसंस्कृति को नया जीवन देने का सार्थक प्रयास किया है। गाँव की माटी के प्रति प्रेम, उनके संकलनों से स्पष्ट पता चलता है। तभी तो कष्टों

को सहकर ग्राम प्रेम तथा लोक साहित्य को सुरक्षित रखा।

ग्राम गीतों में गाँव के अंतःपुरों, चौपालों, बाग-बगीचों, खेतों और खलियानों में कहीं श्रृंगार-रस का, कहीं करुण-रस, कहीं हास्यरस का और कहीं वीर रस का स्रोत खोल दिया है।

सहृदय नर-नारी उसमें डुबकी ले रहे हैं, रसपान कर रहे हैं, मुग्ध हो रहे हैं और थोड़ी देर के लिये संसार के माया जाल से मुक्त होकर स्वर्गीय सुख का रसास्वादन कर रहे हैं। नागरी कवियों की कविता का ऐसा प्रभाव कहीं देखा नहीं गया।<sup>23</sup>

---

### संदर्भ

1. नवगीत- अप्रैल 1960 रामनरेश त्रिपाठी, कुछ अंश
2. रामनरेश त्रिपाठी व्यक्तित्व और कृतित्व- डॉ. रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, पृ. सं.38
3. पं. रामनरेश त्रिपाठी, एक युग एक व्यक्ति, सं. जगदीश प्रसाद पाण्डेय 'पीयूष' 138
4. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास -रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं. 95
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 420
6. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास- बच्चन सिंह पृ. सं. 320
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास- डॉ. नागेन्द्र, पृ.सं. 501
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. रामकिशोर शर्मा, पृ.सं. 221
9. तीस दिन मालवीय जी के साथ - प्रथम संस्करण पृ. 5-6
10. कविता कौमुदी - भाग 3, पृ. सं. 29-30
11. देवेन्द्र सत्यार्थी, धरती माटी है, पृ. 178
12. कविता कौमुदी, भाग - 3 पृ. सं. 14-15
13. कविता कौमुदी, भाग -3 पृ.स. 23
14. कविता कौमुदी, भाग- पृ. सं. 86, 87, 88, 132, 133, 362, 9-10, 56, 54

## लोकसाहित्य मार्तण्ड : डॉ. सत्येन्द्र

डॉ. बलजीत कुमार श्रीवास्तव

आधुनिक परिवेश में निरंतर भौतिकता के दबाव में मानव के मूल्य और आदर्श बदल रहे हैं। अर्थ प्रधान संस्कृति के इस युग में मनुष्य अधिकाधिक लाभ एवं यश प्राप्त करने के लिए अल्पमार्ग का चयन करने लगा है। परिणामतः समाज का नैतिक पतन हुआ। इस बदलाव से साहित्य का प्रभावित होना आवश्यक है। आज का साहित्यकार अर्थोपार्जन एवं प्रचार-प्रसार को लक्ष्य बनाकर लिखता है, जबकि कुछ ऐसे मूक साधक भी हैं, जिन्हें केवल अपने कृतित्व से ही पहचान मिली। इसलिए आज कोई भी साहित्यकार न शून्य में रहता है और न शून्य परिस्थितियाँ साहित्यकार के जाने-अनजाने उस पर अपना प्रभाव डालती हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वह समाज की परिस्थितियों के प्रति जितना अधिक तरल और द्रवणशील होगा, सामाजिक परिस्थितियाँ उतनी ही अधिक चिरस्थायी होंगी। डॉ. सत्येन्द्र ऐसे ही तपस्वी, मनस्वी, साहित्यधर्मी, सृजनधर्मी साधक हैं, जिन्होंने समाज को और समाज में घटित होने वाली स्थितियों को बड़ी गहराई से जाँचने-परखने का प्रयास किया है। इनके जीवनकाल का एक सराहनीय पक्ष यह भी है कि इन्होंने गाँव में जन्म लेकर अभिमण्डित शहरी जीवन की करवटों का भी अवलोकन करने के सुअवसर से वंचित नहीं रह गये। आगरा जिले के भोगीपुरा ग्राम में जन्म लेने वाले सत्येन्द्र ने अपनी यात्रा के विभिन्न पड़ावों को पार करते हुए अंततः राजस्थान विश्वविद्यालय- जयपुर में हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष पद को गौरवान्वित किया।

डॉ. सत्येन्द्र हिन्दी साहित्य के धनी और मौन तपस्वी साधक हैं। यशःपूत डॉ. सत्येन्द्र आज भारत में ही नहीं, बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी भारतीय लोकसाहित्य और हिन्दी साहित्य के व्यावहारिक अध्ययन प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने डॉ. सत्येन्द्र को 'आलोचक'<sup>1</sup> के रूप में मान्यता दी, तो डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'लोकसाहित्य का चक्रवर्ती'<sup>2</sup> कह सम्मानित किया। वहीं डॉ. श्याम परमार ने डॉ. सत्येन्द्र को 'भारतीय ग्रिम'<sup>3</sup> की संज्ञा से विभूषित किया और आचार्य विष्णुकांत शास्त्री जी ने डॉ. सत्येन्द्र को 'श्रेष्ठ निबंधकार'<sup>4</sup> बताया। डॉ. सत्येन्द्र ने जहाँ हिन्दी में 'व्यावहारिक आलोचना' को प्रतिष्ठित किया, वहीं उन्होंने लोकसाहित्य के व्यावहारिक अध्ययन में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

डॉ. सत्येन्द्र ने हिन्दी तथा हिन्दी भाषा को लोकप्रिय विद्वता की अमूल्य निधि प्रदान की है। द्विवेदीयुगीन साहित्यकारों एवं मनीषियों की श्रेणी में जहाँ एक ओर बाबू गुलाबराय माने जाते हैं, वहीं उत्तर द्विवेदी युगीन साहित्यकारों में डॉ. सत्येन्द्र ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। डॉ. सत्येन्द्र का व्यक्तित्व अनुसंधानकर्ता के रूप में रहा है, क्योंकि वे हर क्षेत्र में क्यों और कैसे के प्रति चिंतन करते रहते थे। डॉ. सत्येन्द्र हिन्दी साहित्य के इतिहास की अध्ययन प्रणाली में पुरोधा रहे हैं। उन्होंने नव्य-साहित्यशास्त्र और वैज्ञानिक साहित्येतिहास का नया बीजारोपण किया।

डॉ. सत्येन्द्र एक गम्भीर चिंतक, कुशल प्रशासक और लोकसाहित्य तत्वान्वेषी प्रवर्तक माने जाते हैं। आपने ब्रजभाषा के द्वारा लोकसाहित्य का गंभीर अध्ययन, अन्वेषण और विज्ञान सम्मत परिशोधन प्रस्तुत कर अनुसंधित्सुओं के लिए शोध का नया मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

डॉ. सत्येन्द्र के वैभवशाली व्यक्तित्व के बारे में डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ लिखते हैं- 'उन्नत ललाट, छोटी किन्तु तीक्ष्ण दृष्टि युक्त आँखें, सस्मित, प्रफुल्ल बदन, दुबला-पतला मगर तपश्चर्या वेष्टित दृढ़ता युक्त शरीर, गौरवर्ण, कद न लम्बा, न ही नाटा, शांत, सरल, विनय और गम्भीर हर प्रकार के परिस्थितियों में जीवन और संतुष्टि पाने वाला, अपने संबंध में कुछ भी कह सकने में संकोची स्वभाव, कार्य के गुरुतर भार को उठा सकने की समर्थता और कार्य समाप्ति के पश्चात् उपलब्धि के प्रशांसात्मक परिणामों के प्रति वीतरागिता, सत्यान्वेषण के प्रति सतत् जागरूकता, अध्ययन में परम्परागत शैलियों के प्रति अनास्था तथा उसके विपरीत अध्ययनगत वैज्ञानिक परिणामों के सप्रयोग, इतना सब कुछ मिलाकर भी डॉ. सत्येन्द्र का व्यक्तित्व अधूरा सा ही लगता है।

वे अल्पभाषी थे, आपके कथ्य और कर्म में अंतर नहीं होता। आचरण में अकृत्रिमता, अपनत्व, समरसता और सादगी है। मैं जब कभी डॉ. सत्येन्द्र के व्यवहार और स्वभाव के विषय में विचारता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि सत्येन्द्र दोहरे व्यक्तित्व के साथ चल रहे हैं- एक, 'सत्येन्द्र' वाला व्यक्तित्व, जो सदैव सत्य-चिंतन और निष्ठा की प्राण-प्रतिष्ठा करता है और दूसरा 'गौरीशंकर' वाला व्यक्तित्व जो 'शिवम्' की प्रतिष्ठापना करता है।<sup>5</sup>

डॉ. सत्येन्द्र का जीवन संघर्ष ही हर सफलता (उपलब्धि) का लक्ष्य रहा है और तभी उन्हें अपने कार्यों में सफलता प्राप्त हुई। नागरी प्रचारिणी सभा में अध्ययन के दौरान ही सुप्रसिद्ध साहित्यकारों में बाबू गुलाबराय, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, पं. श्रीराम शर्मा, पं. किशोरीदास वाजपेई, पं. केदारनाथ भट्ट, कृष्णदत्त पालीवाल, श्री परिपूर्णानंद वर्मा, श्री रामचन्द्र भास्कर, भालेराव आदि विशिष्ट साहित्यकारों से परिचय हुआ, जिनके मार्गदर्शन का आप पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।<sup>6</sup> इतना ही नहीं डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का व्यक्तित्व भी इनके लिए प्रभावोत्पादक और प्रेरणास्पद था।

डॉ. सत्येन्द्र के रचना संसार को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें जहाँ एक ओर मौलिक सृजन की प्रतिभा विद्यमान थी, वहीं अन्य कृतियों को देखने की सजग दृष्टि भी। डॉ. सत्येन्द्र को बचपन से ही साहित्य के प्रति लगाव था। उन्होंने दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में 'गौरी राज्य' नामक उपन्यास की रचना की। एक वर्ष उपरान्त सन् 1910 में दूसरे उपन्यास 'डाकू दल चक्र' का सृजन किया। कुछ वर्ष उपरान्त 1922 में आप द्वारा विरचित 'सूर्यकांत उर्फ बहादुर अय्यार' नामक उपन्यास सामने आया, तीनों उपन्यास गौरी ग्रन्थशाला के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुष्प के रूप में लिखे गये हैं।<sup>7</sup>

डॉ. सत्येन्द्र का ख्याति प्राप्त नाटक 'कुणाल' को तीन बार वनस्थली विद्यापीठ द्वारा मंचित किया गया और लगभग 20 बार अन्य विद्यालयों में। इसका रेडियो रूपान्तर भी आकाशवाणी के अखिल भारतीय केन्द्रों से प्रकाशित किया गया।<sup>8</sup> आपके द्वारा रचित मानव उद्धार, बसन्त तथा प्रायश्चित्त ऐसे तीन एकांकी नाटक हैं, जो अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सफल रहे हैं। डॉ. सत्येन्द्र

का 1926 ई. में पहला लेख 'माधुरी' पत्रिका में 'कृष्ण कवि' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

मौलिक चिंतनधारा के अनुसरण में डॉ. सत्येन्द्र ने दो प्रसिद्ध 'कला, कल्पना और साहित्य' तथा 'साहित्य की झाँकी' ग्रंथों की रचना कर साहित्य जगत में उल्लेखनीय कार्य किया। डॉ. सत्येन्द्र का अपने ही घर में गाये जाने वाले गीतों, व्रत-त्योहार आदि की कथाओं को सुन व देखकर लोकसाहित्य की प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। जब उन्होंने स्नातक के छात्र के रूप में श्री सी. महाजन का पंवाड़ा (बैलेड्स) पर भाषण सुना तो जिज्ञासा व आकर्षण, लोकसाहित्य की ओर अग्रसर ही नहीं हुआ, अपितु अपनी तीक्ष्ण और विवेचनापूर्ण बुद्धि से इसके सौन्दर्य को परख लिया।<sup>9</sup> डॉ. सत्येन्द्र का लोक साहित्य संबंधी सर्वप्रथम लेख 'लोकमानस के कमल' नाम से 'जयाजी प्रताप' नामक पत्रिका में लिखा गया, जिसमें ब्रज की कहानी और गीतों की ग्राम्यकला के सौन्दर्य की विवेचना किया गया था।

डॉ. सत्येन्द्र ने लोक साहित्य के विकास क्षेत्र में कार्य करने के लिए 'जनपदीय प्रस्ताव' रखे जाने का कार्यक्रम बनाया। जनपदों के निर्माणार्थ आपने ही सर्वप्रथम प्रयास करके डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, श्री विद्यालंकार, श्री सम्पूर्णानंद, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डॉ. धीरेन्द्र वर्मा जैसे विख्यात साहित्यकारों के नाम 'जांच कमीशन' के लिए प्रस्तावित किये थे। यही नहीं आपने ही ग्राम स्तर पर साहित्यिक अभिरुचि के प्रस्फुरण हेतु प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना के सुझाव पेश किए।<sup>10</sup> डॉ. सत्येन्द्र ने सर्वप्रथम मथुरा में ब्रज जनपद का कार्य अपने निश्चित मतानुसार प्रारंभ करते हुए 'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना की। ब्रज क्षेत्र को विकसित करने के लिए डॉ. सत्येन्द्र ने पी-एच.डी. के लिए 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' नामक विषय का चयन किया, जो एक मौलिक चिंतनधारा का विशिष्ट ग्रंथ सिद्ध हुआ।

डॉ. सत्येन्द्र ने लेखन, विवेचन और विचारण की वृत्ति का न केवल प्रयोग किया, बल्कि अपनी आस्थाओं, विचारों और मौलिक चिंतन के द्वारा विभिन्न प्रकार की संस्थाओं जैसे हिन्दी साहित्य विद्यालय, नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा हिन्दी विद्यापीठ, हिन्दी सभा- नवलगढ़, हिन्दी साहित्य परिषद्- मथुरा, ब्रज साहित्य

मण्डल, भीष्म भ्रातृ मण्डल- मथुरा आदि का गठन किया।

डॉ. सत्येन्द्र द्वारा सृजित मौलिक साहित्य पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि डॉ. सत्येन्द्र की अभिरुचि नाटकों के प्रति अधिक रही है। उन्होंने लगभग पाँच नाटक, आठ एकांकी तथा छः रेडियो रूपान्तरों की रचना की। डॉ. सत्येन्द्र द्वारा लिखे प्रमुख नाटकों एवं एकांकियों में कुणाल, मुक्तियज्ञ, वसंत स्वागत, बलिदान, मानव उद्धार, विक्रम का आत्ममेघ, प्रायश्चित्त, बसंत, जीवन यज्ञ, निहालदे का सत, गुरु गोगा जी, रहिमान चुप हवे बैठिये, टपु धरि दे यारू गई परंद की, बसंत बहार, बसंत वैभव आदि है। डॉ. सत्येन्द्र के ये नाटक मुख्यतः ऐतिहासिक और सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं।

डॉ. सत्येन्द्र के नाटक जहाँ ऐतिहासिक और कल्पना से ओत-प्रोत हैं, वहीं एकांकी समाज सापेक्ष। उनके द्वारा रेडियो के लिए लिखे गये एकांकियों में लोक चेतना के स्वर प्रमुख हैं, जिसमें रस और संगीत दोनों का ध्यान रखा गया है। डॉ. सत्येन्द्र के नाटक आचार्यों द्वारा निर्धारित नाट्य-सिद्धांतों पर भी पूर्णतः खरे उतरे हैं। डॉ. सत्येन्द्र के नाट्य साहित्य में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना, ऐतिहासिक चेतना और गाँधीजी की मानवीय चेतना के दर्शन होते हैं। सामाजिक चेतना से अनुप्राणित नाटकों में समाज के मिथ्याडम्बरों, जातिगत तथा वर्गगत संघर्षों तथा सामाजिक समस्याओं को स्वर दिया गया है। इन नाटकों की भाषा और शिल्प सर्वजन ग्राह्य है। नाटकों में प्रयुक्त गीतों ने चारुता एवं ख्याति प्रदान की। लोक में बिखरी हुई सम्पदा को एकत्रित करके उसे मीडियाधर्मी बनाना डॉ. सत्येन्द्र की कुशाग्र बुद्धि का ही प्रतिफल है।

मौलिक सर्जन के साथ-साथ डॉ. सत्येन्द्र में एक कुशल, गंभीर समीक्षक के गुण भी विद्यमान थे। डॉ. सत्येन्द्र की आलोचनात्मक दृष्टि कई मान्यताओं को लेकर विकसित हुई। डॉ. सत्येन्द्र ने प्रचलित काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को नवीन दृष्टि से देखा। डॉ. सत्येन्द्र साहित्य को केवल समाज का दर्पण ही नहीं मानते, बल्कि उसे समाज की शक्ति और नवीनता स्वीकार करते हैं। साहित्यकार के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण है, किसी आंतरिक पीड़ा से व्याकुल व्यक्ति उपकार और अभावपूर्ति की दृष्टि से साहित्य रचना में प्रवृत्त होता है। डॉ. सत्येन्द्र ने साहित्य

के तीन कर्म निरूपित किये हैं- एक, चित्र प्रस्तुत करना, जिसका संबंध साहित्यकार के सृजन से है। दूसरा, जीवन की दिशा के लिए आदर्श प्रस्तुत करना तथा तीसरे पाठक के मन को निवृत्त करने की अपेक्षा के लिए मन को प्रवृत्त करना।<sup>11</sup> इसी तरह डॉ. सत्येन्द्र के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में प्रसादजी का समरसता सिद्धांत और शुक्ल जी का हृदय वृद्धि समन्वय प्रभाव परिलक्षित होता है। गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित डॉ. सत्येन्द्र ने समीक्षा को मानव विकास के आरम्भिक स्थितियों से सम्बद्ध माना है।

डॉ. सत्येन्द्र आलोचना को विज्ञानपरक दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। उनका मानना है कि अनुभूति को सत्य, शिव, सुंदर के साथ-साथ ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी जाँचना परखना चाहिए। डॉ. सत्येन्द्र की समीक्षा संबंधी मान्यताओं को पढ़कर ज्ञात होता है कि वे गाँधी के मानवतावादी, दृष्टिकोण के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और नैतिक आदर्शों के पक्षधर थे। डॉ. सत्येन्द्र ने आलोचक के रूप में जहाँ श्रृंगार रस को भक्तिगत श्रृंगार और रीतिगत श्रृंगार के रूप में विभाजित किया, वहीं छायावाद को पलायनवादी मान श्रृंगार रस से पुष्ट माना। डॉ. सत्येन्द्र ने सूरकाव्य में आचार्य शुक्ल के लोकरंजन के स्थान पर लोकमंगल की भावना देखी। गाँधी और मार्क्सवाद दोनों को यथार्थ के धरातल पर एक माना। अंतर किया, तो यह कि गाँधीवादी का यथार्थ, आदर्शवाद है और मार्क्सवाद का यथार्थ, पूर्णरूपेण यथार्थ। सत्येन्द्र की अवधारणा थी कि प्रतिक्रिया में इतिहास का हाथ रहता है और प्रगति सार्वजनिक चीज है। कला, कल्पना और साहित्य, प्रसादजी की कला, समीक्षा सिद्धांत, प्रेमचन्द उनकी कहानी कला, गुप्तजी की कला, समीक्षा के सिद्धांत, समीक्षात्मक निबंध, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, प्रेमचन्द, हिन्दी गद्य का परिप्रेक्ष्य आदि उनकी हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने ग्रंथ शोधन विधि, पांडुलिपि विज्ञान, लोकसाहित्य विज्ञान, ब्रज लोक संस्कृति अनुसंधान जैसी तकनीकी कृतियाँ भी लिखी।

डॉ. सत्येन्द्र सम्यक् तथा वैज्ञानिक दृष्टि के कारण तुलनात्मक आलोचना-सिद्धांतों को विशेष महत्त्व देते थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने के कारण उन्होंने शोधपरक आलोचनात्मक दृष्टि विकसित की। डॉ. सत्येन्द्रजी ने अपने आलोचना एवं निबन्ध साहित्य में कृतिकार, वाद सभी पर अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे एक तलस्पर्शी समीक्षक हैं।

परिनिष्ठित साहित्य के कुशल एवं सफल अध्येता एवं सर्जक होने के साथ-साथ डॉ. सत्येन्द्र की प्रतिष्ठा लोकसाहित्य अध्येता के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने लोक एवं लोकवार्ता के अध्ययन को नई दिशा दी है, उन्होंने लोक में बिखरी हुई साहित्य सम्पदा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखा और लोक साहित्य विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य उपक्रम किया। डॉ. सत्येन्द्र ने स्वयं स्वीकारा है कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पं. राधेश्याम मिश्र और पं. राम नरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' ने उन्हें लोकसाहित्य के अध्ययन के लिए प्रेरित किया।<sup>12</sup> डॉ. सत्येन्द्र ने ब्रज की लोक सम्पदा को आधार बनाया तथा एक कुशल संग्रहकर्ता, विश्लेषक और समीक्षा के रूप में इसे संयोजित कर विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया। डॉ. सत्येन्द्र की ब्रज की लोक साहित्य का अध्ययन, ब्रज की लोक कहानियाँ, ब्रज की लोक संस्कृति, ब्रज के लोक व्रतानुष्ठान, जगदेव पंवाड़ा, गुरु गोगा पीर, लोकवार्ता की पगडंडिया आदि लोकसाहित्य महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

लोकवार्ता का अध्ययन करते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने एक ओर जहाँ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रचलित, विकसित सिद्धांतों एवं मान्यताओं को अपनाया, वहीं भारतीय परिप्रेक्ष्य में लोकवार्ता एवं लोक साहित्य की भाव एवं शिल्प भूमि को स्पष्ट किया। डॉ. सत्येन्द्र ने लोकवार्ता के आधार पर लोकमानस का वृहद अध्ययन प्रस्तुत किया और लोकमानस की सत्ता को विशेष महत्त्व दिया। उन्होंने लोकमानस को चेतन और अवचेतन के साथ-साथ अर्द्धचेतन के स्वरूप में भी देखा। उनका मानना है कि समस्त विश्व में आदिम से लेकर आज तक सामान्य मानस धर्म कार्य करता है जो कि प्रत्येक मस्तिष्क में विद्यमान है। डॉ. सत्येन्द्र ने लोकसाहित्य एवं लोकतत्त्वों के मूल में 'लोकमानस' का विशिष्ट वैज्ञानिक अध्ययन करके लोकमानस के चार तत्त्वों प्राकल्पना (रिचुअल थिंकिंग) आत्मशीलता (ऐनीमिस्टिक थिंकिंग), टोना-विचारणा (मैजिकल थिंकिंग) और आनुष्ठानिक (रिचुअल थिंकिंग) को मुख्य निर्धारक माना।<sup>13</sup> डॉ. सत्येन्द्र ने मनोविज्ञानवादी, नृ-वैज्ञानिक तथा लोकसाहित्य वाद (शुद्ध) सम्प्रदाय के आलोक में निष्कर्ष निकाला कि लोकवार्ता और लोकसाहित्य का अपना इतिहास और अपना विज्ञान है, उन्होंने लोकसाहित्य अध्ययन को भाषाविज्ञान के समकक्ष मानते हुए 'फोकलोरिस्टिक' अध्ययन पर बल दिया।



साथ ही ब्रज लोकसाहित्य का विशिष्ट अध्ययन करके अपनी धारणाओं को पुष्ट किया।

डॉ. सत्येन्द्र की विशेषता है कि वे लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोकतत्त्व, लोकमान्यताओं, लोककलाओं पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते समय जहाँ एक ओर रचना के मूल परिवेश को देखते हैं, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं को देखते हैं तथा तीसरी ओर उसे वेदों से लेकर समकालीन विचारकों की स्थापनाओं पर कसते हैं और पुनः उसे लोक के धरातल पर लाकर खड़ा कर देते हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने जहाँ एक ओर लोकवार्ता को समीक्षात्मक दृष्टि से देखा है, वहीं उन्होंने बिखरी हुई लोक सम्पदा को एकत्र करके जनसामान्य तथा विद्वज्जन के लिए सुलभ किया है। इस कार्य में बहुआयामी, सहज व्यक्तित्व के साथ-साथ एक कुशल सम्पादक की छवि सामने आती है। सम्पादक के रूप में डॉ. सत्येन्द्र ने अनेक पाठ्य-पुस्तकों, अभिनन्दन ग्रंथों तथा अनेक उपयोगी पुस्तकों का संपादन किया। डॉ. सत्येन्द्र 'आर्यमित्र' पत्रिका के लोक संस्कृति अंक, सूर स्मारक मण्डल पत्रिका, ब्रजभाषा विशेषांक आदि का सम्पादन किया। डॉ. सत्येन्द्र विशेषतया ब्रज क्षेत्र में बिखरी लोकगाथाओं को संग्रहित कर संरक्षित किया है। उनकी विशेषता है कि संग्रहीत पाठ के साथ-साथ उन्होंने अन्य उपलब्ध पाठों की प्रामाणिक जाँचकर अपने द्वारा संकलित पाठ्य से तुलनात्मक अध्ययन करके, संदर्भ सहित शुद्ध पाठ देने का प्रयत्न किया है।

डॉ. सत्येन्द्र ने जहाँ स्वयं शोधकार्यों को महत्त्व दिया, वहीं

अपने निर्देशन में प्रस्तुत शोध प्रबंधों का कुशल एवं गम्भीर विश्लेषण करवाया। समस्त विश्वमानस की आधार-भूमि को एक मान्य बनाने के कारण ही आंध्रप्रदेशी, पंजाबी, बांग्ला, तेलुगु, अंग्रेजी आदि भाषाओं के लोक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर अपने तथ्यों को पुष्ट किया।

डॉ. सत्येन्द्र का मानना है कि सम्पूर्ण हिन्दी का आधार लोकचेतना रही है। उन्होंने सिद्ध किया है कि आदि कवि वाल्मीकि द्वारा प्रणयन रामाख्यान जनश्रुति पर आधारित है। अतः प्रारंभ से लेकर अद्यतन काव्य तक हिन्दी के विकास में लोकमानस की विशेष भूमिका है। उन्होंने अपनी बात की पुष्टि के लिए 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन' प्रस्तुत किया कि हिन्दी परिनिष्ठित उदात्त साहित्य लोक से प्रभावित है। उनका मानना है कि भारत के अपौरुषेय वेद भी लोकभूमि पर निर्मित हुए हैं। डॉ. सत्येन्द्र साहित्यिक अभिव्यक्ति का आधार पुराणवार्ता को माना है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी संसार में डॉ. सत्येन्द्र की ख्याति एक गम्भीर कर्मठ एवं कुशल लोकसाहित्य अध्येता के रूप में रही है। डॉ. सत्येन्द्र की गतिमति लौकिक और नागर दोनों संस्कृतियों में समान थी। इसी कारण वह लोक साहित्य और परिनिष्ठित साहित्य में समन्वय स्थापित कर पाये। वह एक कुशल अध्येता हैं, सर्जक हैं, समीक्षक हैं, उनके द्वारा सृजित साहित्य-सम्पदा उनके बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रमाण हैं।

## सन्दर्भ

1. आ. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल- मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, भूमिका- पृष्ठ-5
3. डॉ. श्याम परमार- आलोचना, अंक 6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
4. 7 फरवरी 2002 हिन्दी विभाग, ल.वि.वि. के पुनश्चर्या पाठ्यक्रम के उद्घाटन समारोह के अवसर पर
5. डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ- अन्य निबंध : हिन्दी साहित्य मर्मज्ञ डॉ. सत्येन्द्र, 'अरावली' साहित्यिक पत्रिका (उदयपुर) 16 सितम्बर 1965, पृष्ठ 5
6. डॉ. बलजीत कुमार श्रीवास्तव-साहित्य मार्तण्ड डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ 9
7. डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ - हिन्दी साहित्य संदीपन, पृष्ठ 21
8. 1940 में सोशल यूनिनयन, चम्पा अग्रवाल कालेज, मथुरा से प्रकाशित, उद्धृत साहित्य मार्तण्ड डॉ. सत्येन्द्र
9. डॉ. कन्हैया लाल सहल- भूमिका, शोध पत्रिका, साहित्य संस्थान, उदयपुर
10. डॉ. सत्येन्द्र का लेख- जनपदीय प्रस्ताव के संदर्भ में, 'प्रताप' कानपुर 1944
11. डॉ. बलजीत कुमार श्रीवास्तव- साहित्य मार्तण्ड: डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 186
12. डॉ. सत्येन्द्र द्वारा सुश्री डी. सत्यनारायण मूर्ति को दिये गये पत्र का अंश
13. प्रोफेसर पवन अग्रवाल- साहित्यमार्तण्ड डॉ. सत्येन्द्र, भूमिका से पृ.7

## लोक साहित्य के अमृत कलश : पं. राम नारायण उपाध्याय

डॉ. पूरन सहगल

मैं जब भी किसी पूजा अनुष्ठान में कलश की पूजा करता हूँ, तब सहज ही लगने लगता है कि कलश पूजा के पश्चात् और किसी भगवान अथवा देवी-देवता की पूजा करना आवश्यक नहीं रह जाता। सभी तो कलश में समाहित हैं।

ॐ कलशस्य मुखे विष्णु कण्ठे रुद्र समाश्रितः।  
मूले त्वस्य स्थितो ब्रह्मा, मध्य मातृकाः स्मृताः ॥  
कुक्षौ तु सागराः सर्वे, सप्तदीपा वसुंधरा।  
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेद, सामवेदो ह्यथर्वणाः॥  
अंगैश्च सहिताः सर्वे, कलशन्तु समाश्रिताः।

जिस कलश में विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, मातृगण, समस्त सातों सागर, द्वीप, चारों वेद एवं समस्त संहिताएँ समाश्रित हों। उस कलश की पूजा कर लेने के पश्चात् कौन से भगवान की पूजा शेष रह जाती है।

दादा स्व. पं. रामनारायणजी उपाध्याय ने लोकमाता निमाड़ी के समक्ष 'शब्द' और 'सबद' के जितने मंगल कलश, और मंगलगीत सुप्रतिष्ठित किये थे। वे सब एकमेव होकर एक लोकमंगलदायी कलश का स्वरूप लेकर समग्र लोकसाहित्य के प्रतिनिधि

के रूप में हमारे समक्ष गौरव-पाट पर स्थापित है। हमें इस मंगल कलश की केवल पूजा ही नहीं करना है। इसमें समाहित ऊर्जा को स्वयं में समाहित भी करना होगा। यह मंगल कलश एक दधीचि की तपस्या का प्रतिफल है। जिस प्रकार महर्षि दधीचि ने देवताओं के समस्त दिव्य आयुधों की शक्तियाँ स्वयं में स्थापित कर ली थीं। ठीक उसी तरह दादा स्व. रामनारायण उपाध्याय ने लोक साहित्य की दिव्यता को अपने भीतर समाहित कर लिया था। ऐसी मंगलदायी स्थिति कोई दधीचि अथवा कबीर ही पा सकता है। दधीचि, कबीर अथवा पं. रामा दादा एक दूसरे के पर्याय हैं। कबीरार्थ स्थिति अथवा दधीचि स्थिति पाने के लिए सारा जीवन हवन करना पड़ता है। अंश-अंश स्वाहा: होना पड़ता है। रामा दादा ने ऐसा करके ही यह मंगलदायी दिव्यता प्राप्त की।

*तन को जोगी सब करें, मन को बिरला कोई।  
सब सिद्ध सहजे पाइये, जो मन जोगी होई ॥*

मन का जोगी हो पाना बहुत कठिन होता है। तन को जोगी कर लेना तो बहुत सहज है। जब मन जोगी हो जाता है, तब भीतर जो 'ज्ञान जोत' जगमगा उठती है, उससे सारा अज्ञान अंधकार नष्ट हो जाता है। एक अद्भुत दिव्यता प्राप्त हो जाती है। भीतर 'शरीर' में 'सबद' की तंतरी बज उठती है। एक 'सबद तंतरी' जिसकी अनुगूँज बाहर-भीतर सुनाई पड़े। 'सुने सोई निहाल' 'बोले सोई निहाल'। यह तंतरी नाद, शब्द ब्रह्म की सतत् साधना के पश्चात् ही मुखर होता है। मनोमय जगत में साँई को बसाना पड़ता है। जब साँई मन के माणकपाट पर बस जाय, तब तो मीरा, कबीर, सूर और तुलसी और चंद्रसखी की स्थिति बन जाती है। सारी 'गरज' समाप्त हो जाती है। 'साँई' और स्वयं का फर्क मिट जाता है।

*कबीर मन निरमल भया, जैसे गंगा नीर।  
पीछे-पीछे हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ॥*

स्व. पं. रामनारायण उपाध्याय ने यह बेगरज-बेपरवाह स्थिति प्राप्त कर ली थी। पारस सोना तो बना सकता है, किन्तु अपना अद्भुत स्पर्श देकर पारस नहीं बना सकता। रामा दादा ने इस वास्तविकता को नकार दिया। उन्होंने जिसको भी छू दिया सच्चा खरा पारस बना दिया।

पारस से श्रेष्ठ शालिगराम होता है। शालिगराम से भी श्रेष्ठ होता है, तुलसी बिरवा। तुलसी बिरवे से भी पावन होता है श्रद्धा, और आस्था का वह आँचल जो तुलसी बिरवे के नीचे धरे दीपक को हवा- आँधी और कुदृष्टि से बचाकर प्रज्वलित बनाए रखता है। पं. रामनारायण उपाध्याय वही ममता वाला आँचल थे। उस आँचल के नीचे अनेक दीपक सुरक्षित रहकर प्रज्वलित होते रहे। आज भी निमाड़ी लोक साहित्य के चौक में ही नहीं, अपितु समग्र लोक साहित्य के आँगन में जगर-मगर अपना प्रकाश फैला रहे हैं।

पं. राममूर्ति त्रिपाठी ने दादा के लिए कहा है- 'यह लोकोपासक, श्रद्धामय भारतीय पुरुष, जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वही हो जाता है। लोक की उपासना करते-करते यह लोकोपासक, 'जंगम लोक' ही बन गया है।' यही कारण है कि मैंने दादा को लोक साहित्य का मंगल कलश कहा है। लोकमाता के अनुष्ठानों में दादा के द्वारा स्थापित समस्त मंगलकलश अपनी प्रतिष्ठा और पावनता सहित दादा के भीतर समा गये है। इसीलिए मैं दादा को मंगल कलश कहता हूँ। समस्त द्वीपों की संस्कृतियों और समस्त सागरों की गहनता दादा में अनुभव करने के पश्चात् ही मैं उन्हें मंगल कलश कहता हूँ। समस्त नदियों की पावनता और समस्त देवताओं की भव्यता, दादा में देखकर ही मैंने उन्हें मंगल कलश कहा है। गणपति और त्रिदेवों का मंगलमय स्वरूप देखने के पश्चात् उन्हें मंगल कलश कहना ही होगा।

दादा पं. रामनारायण उपाध्याय अब देह से ऊपर उठकर 'शब्द शक्ति' बन गये हैं। शब्द जो ब्रह्म का स्वरूप है। शब्द जो वाणी का वरदान है। शब्द जो सृष्टि की सार्थकता का बोधक है। साधारण मनुष्य से शब्द और शब्द से 'सबद' तक की यात्रा ही दादा का जीवन चरित्र है। एक वामन पुरुष की यह यात्रा बड़ी रोचक, रोमांचक और प्रेरणादायक है। एक संत पुरुष ने कहा है- 'सबद की मार करारी लागे।' सबद की यह करारी मार ही सुरति को जगा देती है। सुरति के जागने पर ही तो त्रिवेणी का प्रवाहमान स्रोत एक रूप हो जाता है। त्रिवेणी का यह भीतरी संयोग ही त्रिवेणी संगम कहलाता है। सत्य-स्नेह और सृजन का यह त्रिवेणी संगम जब भीतर प्रवाहित हो उठता है, तब गीता की 'स्थिति प्रज्ञता' पैदा होती है। मोक्ष के पड़ाव को पार कर 'बहुत आगे, आत्मानुभूति और अत्माभिव्यक्ति से भी ऊपर, समस्त रूढ़

आचारों-विचारों से परे 'साँई साहिब एक हैं या मैं भिन्न न भिन्न' की स्थिति बन जाती है।

रामा दादा ने लोक साहित्य में यही किया है। आयु के तिरासी पड़ाव पार कर चौरासिवें पड़ाव पर डेरा लगाने से पूर्व न तो वे पिछले पड़ावों के बारे में सोच रहे थे और न अगले पड़ाव के बारे में। सृजनधर्मी रामा दादा को इतनी फुर्सत ही कहाँ थी कि वे अपने पिछले वर्षों के सृजन का लेखा-जोखा देखें या हिसाब लगाएँ? किसान के बेटे थे रामा दादा और किसान हिसाब नहीं लगाता। हल चलाता है। बाग लगाता है। फसल उगाता है। सृजन करता है। धरती में बोये गये बीजों को गिनता नहीं। माँ कब हिसाब लगाती है? बेटे को दूध पिलाने का। माँ, भगवान और किसान में कोई अंतर नहीं होता। माँ का ममत्व, किसान का सृजन और भगवान का सत्य एकमेव होते हैं, तब साहित्यकार जन्म लेता है। रामा दादा ऐसे ही सहज, सृजनहारा और सर्वहारा साहित्यकार थे। उनका मिजाज फकीराना और अंदाज कबीराना था। वाल्मीकि की पीड़ा उनके हृदय में सदा जीवित बनी रही। ठीक उसी तरह जैसे शिवशंकर के कंठ में लोक सागर का विष। न तो शिव ने अपने कंठ के विष को जगत में बाँटा और न रामादादा ने हृदय के दर्द को। शिव ने यदि बाँटा तो अपना शिव शंकर प्रसाद। अपना मंगलकारी आशीर्वाद। उसी प्रकार रामादादा ने यदि कुछ बाँटा तो वह थी ठहाकों से भरी जीवन शक्ति सृजन की संजीवनी।

लोक साहित्य के विषय में दादा ने कहा- 'उसका प्रवाह मौखिक से लिखित है। इसीलिए इसे श्रुति कहा गया है। आदिमानव की सामूहिक अभिव्यक्ति में से लोक साहित्य का जन्म हुआ है। वस्तु के स्वरूप, हावभाव, ध्वनि में शब्दों का जन्म हुआ है। मानव ने, गंगा की कल-कल, बिजली की कड़क, सूर्य और अग्नि की उपासना और बरसते मेघ में उन्मुक्त होकर जो गीत गाए होंगे, वही गीत उपासनाएँ हैं। वेद व्यास ने उन्हीं उपासनाओं को परिष्कृत करके वेदों में सम्मिलित किया है। इस प्रकार उन गीतों और वेदों ने अभिन्न होकर संस्कृति को बना। गीतों की यही लोक प्रार्थनाएँ वेदों की ऋचाएँ कहलाई। ऋषियों ने जिस अनंत अक्षर तत्त्व का वेदों में गान किया, उसी का छन्दित और उल्लासपूर्ण स्वरूप मानवीय कंठों से लोकगीतों में गूँजता आया है। लोक! हजार आँख, हजार सिर, हजार बाँह और हजार पाँवों

वाला नहीं है। वह तो अनंत आँख, अनंत शीश, अनंत भुजाओं और अनंत पाँवों से पृथ्वी के कोने-कोने में व्याप्त है।' लोक साहित्य सदा सत्य, शिव और सुंदरम् की स्तुति करता है। वह सदा-सर्वदा सबके लिए मंगल की ही कामना करता है। वह अनुष्ठान में प्रतिष्ठित 'मंगल कलश' की तरह सब का कल्याण करता है। अनुष्ठान को सफलता प्रदान करता है।

ऐसी ही मंगल कामना रामादादा ने अपने समग्र सृजन में की है। यही कारण है कि वे अग्रपूज्य गणपति का स्थान प्राप्त कर सके। वे लोकसाहित्य का मंगल कलश बन सके। लोक साहित्य के वे पुरोधा थे। निमाड़ी बोली को अभिव्यक्ति की क्षमता दी। उसे बोली से भाषा का स्वरूप प्रदान किया। दादा ने लोकसाहित्य के सभी अंगों पर गवेषणात्मक कार्य किया है। लोकगीत, लोक कथाएँ, लोक कहावतें (लोकोक्तियाँ) लोक पहेलियाँ और लोक कलाएँ। सभी विधाएँ दादा की कसौटी पर से होकर फिर लोक जीवन को प्राप्त हुई हैं। 'लोक साहित्य समग्र' में दादा ने ठीक वैसा ही काम कर दिखाया है जैसा कि मत्स्य अंश अवतार में भगवान विष्णु ने किया था। यह ग्रंथ रामा दादा की समग्र सृजन, सम्पादन और संकलन शैली का जीवंत उदाहरण है। लोक साहित्य के शोधार्थियों के लिए यह 'समाधान ग्रंथ' है। विशेषकर निमाड़ी लोक साहित्य के लिए ऐसा समीक्षात्मक और समाधानात्मक वर्णन व विवरण अन्यत्र मिल पाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। अपने तैंतालीस वर्ष की सृजनशीलता को कुल चालीस पुस्तकों में दादा ने व्यक्त किया है। 'लोक साहित्य समग्र' में उन्होंने अपना समग्र चिंतन भिन्न-भिन्न विधाओं के माध्यम से उड़ेला है।

पद्मश्री व अन्य पुरस्कार एवं अलंकरण उन्हें जब प्रदान किये गये होंगे, तब खूब शुभम् होंगे। किंतु अब से सभी अलंकरण रामादादा के कारण सुशोभित हुए लगते हैं। अब तो एक अलंकरण 'पं. रामनारायण उपाध्याय' के नाम से घोषित होना चाहिए जो निमाड़ी, मालवी लोक सर्जकों को प्रेरणा दे सके। रामादादा को जो भी अलंकरण मिला, उसे उन्होंने सस्नेह और ससम्मान 'माथे' तो चढ़ाया, लेकिन उसे 'माथे' पर कभी नहीं चढ़ाया। वे अलंकरण उनके लिए घड़ी-दो-घड़ी का विश्राम तो बने, पड़ाव नहीं बन सके। दादा की सृजन यात्रा अपनी गति से चलती ही रही। बिना रुके। बिना थके।

रामा दादा दमे के मरीज थे। कहते हैं- 'दमा दम तक।' वे दमे को अपना अभिन्न मित्र मानते थे। सब साथ छोड़ जाये लेकिन दमा साथ निभायेगा। उन्होंने एक पत्र में पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल को लिखा - 'कहा न दमा दमदार को होता है। रोज दो रोटी खाता हूँ। दो कपड़े पहनता हूँ। दो गोली खाता हूँ और दो बात करता हूँ। इस आयु में भी जो दिन सामने आता है, उसे पूरी ताकत से जीता हूँ। ऐसा दोस्त कहाँ मिलेगा, जो जीवनभर साथ निभाए।' पं. रामचन्द्र शुक्ल ने दादा की जीवंतता पर टिप्पणी की कि 'ऐसा तो एक अवधूत ही कह सकता है। एक ऐसा अवधूत जिसने जीवन की सच्चाई को आत्मसात् कर लिया हो। साधुवाद।'

स्नेह, समझ और प्रेरणा का मंगल कलश हम सबके लिए सदा मंगलमय ही बना रहा। लोक साहित्य में असुंदर और अमंगल को कहीं स्थान नहीं है। लोक साहित्य के उस मंगल कलश ने जब 20 मई 2001 को आयु के तिरासी वर्ष पूर्ण कर चौरासिवें वर्ष में प्रवेश किया, तब तक भी उनकी सृजनशीलता सतत् थी। उनका चिंतन चैतन्य और आस्था अटूट थी। लोक की उपासना और लोक साहित्य से सरोकार पंडितजी की दैनिक पूजा थी। लोक साहित्य में वैश्वीकरण की सुगंध का बोध रामादादा ने सबसे पहले पाया। फिर उसे लोक में विस्तारित किया। 20 जून 2001 को उनकी जीवन यात्रा थम गई। लोक साहित्य का सूर्य अस्त हो गया। लोक मानुस लोक में समा गया। रामा दादा किंवदंती-पुरुष बन गये। लोक साहित्य का पर्याय बन गये।

रामादादा ने समरसता भाव से सदा नींव से शिखर तक एक भाव बनाए रखा। न तो दीनता और न ही कायरता। गीता का यह संदेश उन्होंने गीता से नहीं, लोक मानस से सीखा। दादा के लिए पं. राममूर्ति त्रिपाठी ने बहुत ही सहज टिप्पणी की है- 'एक बुद्धि वह होती है जो पोथियों के सहारे अपना परिष्कार करती है। दूसरी वह होती है जो सहज आलोक से आलोकित होती हुई व्यवहार निष्पाद करती है। उपाध्यायजी इस दूसरी श्रेणी में आते हैं।' इसीलिए तो मैंने रामादादा को कबीर कहा है। वे बहु-पठित नहीं थे, बहुश्रुत थे। लोक को उन्होंने जीवन में उतार लिया था। उन्होंने आलोक, लोक से लिया। पोथियों से नहीं। वे पंडित तो केवल वंश से ही थे। खण्डवा की ब्रह्मणपुरी उनकी तपस्या

स्थली। भले ही निवास से वे खण्डवा, निमाड़ के थे, किन्तु वे थे समग्र मालवा के। बल्कि पूरा भारत उनका घर था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उनका चरित्र था। आदि शंकराचार्यजी ने अन्नपूर्णा स्रोत में कहा है 'बांधवाशित भक्तश्च स्वदेशो भवनम् त्रयम्'। ऐसा ही स्वभाव हमारे रामादादा का था। वे हम सबके 'साँझे' थे।

वस्तुतः वे एक मालगुजार किसान के बेटे थे। निमाड़ी भोले मन वाले किसान के प्रतिनिधि थे। लोक ही उनका देवता था। उसी की सत्ता वे स्वीकारते और सत्कारते थे। उन्होंने स्वयं को जीवन पर्यंत लोकोपासक ही बनाए रखा। लोकोत्तर होने का मोह और भ्रम उन्हें कभी भी नहीं रहा।

गाँव का गंवई रामादादा सबका अपना रामादादा बना रहा। उनका कायागत बौना व्यक्तित्व तब आकाश से भी ऊँचा हो जाता था, जब कोई आकाश उनके चरण छूने के लिए उनके चरणों में झुक जाता था।

गाँधी विचारधारा से सराबोर रामादादा का 'गाँधीदर्शन' पढ़कर बार-बार उनसे भेंट करने को मन उत्कंठित हो उठता था। उनके भीतर मनोजगत में बैठा 'गाँधीभाव' उन्हें और भी महान सिद्ध कर देता है। वस्तुतः गाँधी को समझने के लिए लोक को समझना आवश्यक है। गाँधी तो लोक में ही बसता है। रामादादा ने 'गाँधी भाव' को लोक में से ही खोजा। गाँधी साहित्य में से नहीं, उनके लिए श्री बालकवि बैरागी ने खूब कहा है- रामादादा बौने तन के तथा विशाल मन के आकाश धर्मी लोक पुरुष हैं- वे वामन की भाँति औढरदानी हैं। विष्णु जैसे अनेक अवतारी पुरुष उनके दरवाजे पर 'दरवेश बन कर आते हैं'। निमाड़ का वह गाँधी, निमाड़ी का वह गँवई बेटा, लोक साहित्य का वह मर्मज्ञ मनीषी रामादादा आज भी 'वामन' की तरह लोक के साहित्याकाश को अपने वामन पगों से नापता हुआ, कहीं दिख जाए तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वे तो शिवलोक की यात्रा पर गये हैं। लोकदेवता शिव लोक ही तो जाएगा। 13 जनवरी 2013 को कृति द्वारा आयोजित मेरे अमृत महोत्सव समारोह में बैरागी जी ने कहा था- 'लोक-साहित्यकार कभी मरता नहीं है। वह अमर हो जाता है'। दादा अमर हैं वे सदा हमारा मार्ग प्रशस्त करते दिखेंगे, प्रेरणा देते दिखेंगे। उन्हें प्रणाम।

## लोककलाओं के कमल-पुष्प : देवीलाल सामर

डॉ. महेन्द्र भानावत

भारतीय लोककलाओं को अपने देश में और फिर विश्व में प्रतिष्ठित करने का जो कार्य देवीलाल सामर ने किया, वह इतिहास रचना का महत्वपूर्ण अध्याय है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व जब आजादी के सूर्य की किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं, सामरजी ने लोककलाओं की जीवनधर्मी उपादेयता और सांस्कृतिक अनिवार्यता का बिगुल बजा दिया था। अपने एक छोटे से कलादल द्वारा विद्याभवन में इन कलाओं के आदिमगंधी प्रदर्शन भी प्रारंभ कर दिये थे, पर शिक्षा-प्रधान इस संस्था में सामरजी को कला-प्रधान कार्यानुभव रास नहीं आया। फलस्वरूप 21 वर्षीय अपनी अध्यापकीय आजीविका छोड़ उदयपुर में ही 22 फरवरी 1952 को उन्होंने स्वतंत्र रूप से भारतीय लोककला मंडल की स्थापना की।

इससे पूर्व साहित्य के क्षेत्र में सामरजी को एक अच्छे नाटककार और गद्यकाव्य-लेखक के रूप में प्रसिद्धि मिल चुकी थी। सन् 1938 से लेकर 1952 तक उन्होंने कई अच्छे नाटक लिखे। 'चन्द्रलोक', 'मृत्यु के उपरांत', 'आत्मा की खोज' इनके एकांकी संग्रह बड़े चर्चित हुए और देशभर में इनका खूब मंचन हुआ। यही समय था जब विशाल भारत, माधुरी, हंस, वीणा, तरुण, योगी, कर्मवीर, आर्यावर्त, सुधा, विश्वमित्र, अर्जुन, जनपथ, जौहर, नवभारत आदि में उनके गद्यकाव्यों की धूम रही। सत्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने लिखना प्रारंभ किया। वर्ष 1928 में उन्होंने 'तिरस्कृत' नाम की पहली कहानी लिखी। उन्होंने ऐसी 25 से अधिक कहानियां लिखीं जो अप्रकाशित रहीं। 'पूनों की रात' नाम से एक उपन्यास भी उन्होंने 1935 में लिखना प्रारंभ किया जो पूरा नहीं हो सका। 'पारिजात' नाम से उन्होंने अपनी कविता का संग्रह भी तैयार किया, जिसकी भूमिका कविवर सुमित्रानंदन पंत ने लिखी, पर इसका भी प्रकाशन नहीं हो सका।

कलामंडल की स्थापना के बाद सामरजी का रूप लोककलाकार का ही रहा। लगातार तीस वर्ष तक अपने कलादल को लेकर वे प्रारंभ में पूरे देश में और फिर विदेश में घूमते रहे तथा भारतीय लोकनृत्यों, नृत्यनाट्यों और कठपुतलियों के प्रदर्शन देते रहे। पहली बार उन्होंने राजस्थान के घूमरा और भवाई, गुजरात के गरबा, डांडिया तथा आदिवासियों के घूमरा और गेर को अपने अंचल से बाहर निकाला। राजस्थान के पणिहारी नृत्य को नृत्यनाटिका के रूप में मंचित कर उन्होंने जैसलमेर की धरती से उठाकर भारतीय जन-मन की लोकानुरंजनी पुरुरवा दी। इसी प्रकार ढोलामारू, मूमल, रासधारी तथा म्हाने चाकर राखोजी नृत्य नाटिकाओं में सामरजी ने राजस्थान के लोकाख्यानों की पारंपरिक रंगधर्मिता को लेकर जो प्रस्तुतियाँ दीं, उससे पूरा देश यहाँ की सांस्कृतिक महक से अभिभूत हो उठा। इनमें सामरजी की प्रमुख भूमिकाएँ उन्हें कीर्ति के नित नए शिखर देती गईं।

ऐसे ही प्रयोग उन्होंने पारंपरिक धागा पुतलियों में अमरसिंह राठौड़ की नव्य-भव्य नाटिका में किया, जिसने बुखारेस्ट में आयोजित तृतीय अंतर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में विश्व का प्रथम पुरस्कार दिलाया। इसका लोकाधार जोधपुर के जीजोट गाँव के नाथू भाट का कठपुतली खेल था, जिसको मैंने पन्द्रह दिन तक लगातार अपने अध्ययन की आँखों में उतारते हुए 'मुगल दरबार' के नाम से संजीवनी दी। वह क्या रहस्य था कि केवल दो कलाकारों ने बत्तीस पुतलियों के धागे से दर्शकों को चमत्कृत कर दिया!

ऐसी ही 108 पुतलियों की 'रामायण' नाटिका के प्रदर्शन इण्डोनेशिया में भी खूब जमें। बच्चों के लिए जानवरों की पुतलियों को आधार बनाकर 'संगठन में बल' नाटिका बनाई। एक पूरे 'सर्कस' पर भी पुतलियों का कमाल सबको चकित किए रहा। ब्लैक थियेटर की विशिष्ट तकनीक में महावीर, वसीला, हिमबाला जैसी नाटिकाएँ छड़-दस्ताना शैली के अद्भुत प्रयोग बनीं। 'लंगोटी की माया' गृहस्थपन के लिए लाजवाब रही, वहीं 'हड़ताल' के हजारों प्रदर्शनों ने युवकों को हड़ताल नहीं करने की समझ दी।

अपने कलामंडल के माध्यम से सामरजी ने सबसे पहले लोक कलाकारों के प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए। कठपुतलियों के अखिल भारतीय समारोह किए। लोकगीतों के उत्सव बुलाए।

अखिल भारतीय पैमाने पर लोककलाओं की संगोष्ठियाँ रखीं। लोकानुरंजन समारोह किए। लोककलाओं का सर्वेक्षण, अध्ययन और शिक्षण-प्रशिक्षण शुरू किया। कई पुस्तकें प्रकाशित कराईं। लोककला और रंगायन नाम से पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं और लोककलाओं का संग्रहालय खोला। आदिवासियों की संस्कृति और रंगीनी को जग-जाहिर किया और बालकों की लोककलात्मक प्रतिभा-प्रज्ञा से जुड़े कई प्रयोग किए। शिक्षा में इन कलाविधाओं को प्रतिष्ठित किया और इन्हें पठन-पाठन में सम्मिलित कराया। पढ़-कावड़ जैसी पारंपरिक चित्रकलात्मक नृत्य-गाथा-गायकी को पुनर्जीवित किया और ऐसे कई प्रदर्शनधर्मी सांस्कृतिक पक्षों को प्रतिष्ठित किया, जो अपनी जमीन और लोकमनीषा को खो चुके थे।

मेरा यह सुयोग बना कि मैं बी.ए. पास कर कलामंडल आ गया और सामरजी ने मुझे स्वतंत्र रूप से शोध, खोज एवं प्रकाशन का दायित्व सौंप दिया। सन् 1958 में पहली बार लोककलाकारों का प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया, जिसमें राजस्थान के कोने-कोने से अपने-अपने क्षेत्र में लोकानुरंजन की ख्याल, स्वांग, लीला आदि विधाओं में प्रदर्शन देनेवाले कलाकारों से मिलने, उनके बारे में जानने, उनके द्वारा प्रस्तुत किए जा रहे प्रदर्शनों की जन भागीदारी के सबब, समस्याएँ तथा चुनौतियों से रू-ब-रू होने का मुझे मौका हाथ लगा।

हमने कलाकारों के पास से सहेजकर महत्त्वपूर्ण जानकारी को लिपिबद्ध करना, उनकी गायकी का रेकार्डिंग करना, उनसे संबंधित प्रकाशन देना और विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए संगोष्ठियाँ तथा समारोह आयोजित करने का सिलसिला प्रारंभ किया। ये सारे कार्य मेरे द्वारा होने के कारण मुझे इस क्षेत्र की बहुत सारी जानकारी सुलभ हुई और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उसे आमजन के लिए सुलभ करने का मौका हाथ लगा। यह कार्य निरंतर किया और खूब किया।

ऐसे विभिन्न उत्सव, समारोह, संगोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ, मेले और प्रयोगधर्मी कार्य सम्पन्न करते हुए पूरे देश के विभिन्न अंचलों में बिखरी-पसरी लोकानुरंजनी धरोहर के साथ वहाँ कार्यरत कलाकारों, विद्वानों, कलारसिकों तथा प्रभावी व्यक्तियों से संपर्क कर उन्हें कलामंडल से जोड़ा गया। उसी का परिणाम है कि देश

में कई संस्थाएँ, कई विद्वान, कई पत्र-पत्रिकाएँ, कई कॉलेज तथा कई विश्वविद्यालयों में लोकसंस्कृति, लोककला, लोकसाहित्य और लोक से जुड़ी जीवनधर्मिता के अनेकानेक पक्षों पर कार्य प्रारंभ हुआ। विदेशों के कई कलाचिंतकों ने आकर भारतीय लोककला-संस्कृति पर अच्छा कार्य किया। यह कार्य अभी भी जारी है।

मेरे लिए यह संतोष का विषय है कि 50 वर्ष पूर्व जो कार्य हमने लोककलाओं के संरक्षण, संवर्धन, प्रकाशन तथा प्रचार-प्रसार का हाथ में लिया था, उसे हम फलीभूत हुआ देख रहे हैं। तब हम अकेले थे, आज अनेकानेक हैं। तब जिन पर हमने पहली बार बहुत छोटे परिवेश में जानकारी देकर खोज की पगडंडी बनाई थी, आज उन्हीं विधाओं पर कई-कई लोग काम कर उपाधियाँ ले रहे हैं और जो विषय साहित्य में मान्यता को लेकर निरास्वप्न बना हुआ था, आज वही प्रामाणिक रूप में सर्व-स्वीकृत शास्त्रों का विज्ञान बना हुआ है।

सन् 1971 में देवीलाल सामर की षष्टिपूर्ति पर 'गेहरो फूल गुलाब रो' नामक ग्रंथ का मैंने संपादन किया, तब जगदीशचन्द्र माथुर ने कहा था - सामरजी का कृतित्व और व्यक्तित्व केवल इसलिए स्तुत्य नहीं है कि वे लोककलाओं में पारंगत हैं और उन्होंने राजस्थान की अनुपम और रसवंती परंपराओं को देश-विदेश में उजागर किया है। मैं तो उनका इसलिए भी अभिनंदन करता हूँ कि वे लोककलाओं का समसामयिक जीवन से समन्वय करने में विश्वास रखते हैं। उन्होंने लोककलाओं को पारंपरिक पृष्ठभूमि में नया आकलन दिया है। उन्हें पुष्पित, पल्लवित और फलदायिनी बनाया है। साथ ही आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए एक मार्ग भी बना दिया है, जिसके कारण इन कलाओं को श्रीहीन होने से बचाया जा सकेगा।

श्री माथुर ने अभिनंदन समारोह में मुख्य अतिथि-वक्ता के रूप में भाग लिया था और लोकसाहित्य विज्ञानवेत्ता डॉ. सत्येंद्र को मैं कलामंडल की प्रत्येक गतिविधि से अवगत कराता रहा। उन्होंने हमारी कला-संगोष्ठियों में भी प्रमुखता से भाग लिया और

राजस्थान विश्वविद्यालय के अपने हिन्दी विभाग में मेरे द्वारा संपादित भारतीय लोकनाट्यों के प्रतिनिधि संग्रह 'लोकरंग' को भी पाठ्यक्रम का विषय बनाया। उनका यह कथन आज भी लोककला क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए प्रेरणा का प्रकाश बना हुआ है- सामरजी में एक दुर्लभ गुण यह है कि वे व्यवस्थापूर्वक कला का उन्नयन कर सकते हैं और करा भी सकते हैं। लोककलाओं पर उन्होंने प्रामाणिक लिखा है और इस क्षेत्र में अनुसंधान को प्रेरित किया है। उनका लोककला मंडल साक्षी है कि प्रतिभाशाली कलाकार अकेला भी कितनी महान उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है और किस प्रकार कला-प्रेरणाओं का स्रोत हो सकता है।

देश-विदेश में सामरजी को कई सम्मान और पुरस्कार मिले। भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया तथा लोकजीवन ने लोककलाकारों का कलाकार माना। वे अपने श्वेत पाजामे-झब्बे में सदा ही कलाकार बने रहे। कत्थई रंग की पुट्टे की मेवाड़ी गोल टोपी उनको विशिष्ट पहचान देती रही। तीन दिसंबर 1981 को 70 वर्ष की उम्र में उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।

अपने जीवनकाल में उन्होंने व्यवस्थापूर्वक कलाओं का लोकानुशासन किया। सच तो यह है कि लोककलाओं के उन्नयन, संरक्षण, संवर्द्धन और पर्यवेक्षण की दिशा में सामरजी द्वारा की गई कला-साधना हमारे स्वतंत्रोत्तर भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

अब वैसा समाज नहीं रहा। लग रहा जैसे प्रतिपल ही हम परिवर्तित होते समय के पीठासन पर बैठे नित नवीन परिदृश्य से बंधे जाने को मजबूर-उत्सुक हैं, तब भी हमारा एक मन परंपराशील बने रहकर पूर्व और भावी के मायावी में डोलता-इतराता नित नये मंसूबों की बांबी निहारता रहेगा, तब फिर कोई न कोई कला-प्रणेत, कला-मनीषी, कला-रसिक हमारे बीच ऐसा होगा जो सामरजी की तरह कला की साधना और उसमें समर्पण की स्वर्ण-भस्म देता रहेगा।



## नर्मदा-तट का साहित्यसाधक : बाबूलाल सेन

डॉ. श्रीराम परिहार

पिछले सात दशक निमाड़ के साहित्यिक और सांस्कृतिक उत्थान में काफी महत्वपूर्ण हैं। इधर बोलियों को व्यक्ति-जीवन की धरोहर के रूप में सुरक्षित रखते हुए उनके विकास के प्रति गहरी रुझान दिखाई दे रही है। यह किसी क्षेत्र की अस्मिता और उस बोली के समाज की सांस्कृतिक चमक को बचाये रखने के लिए जरूरी भी है। अलग-अलग क्षेत्र अपने-अपने सांस्कृतिक नदी-स्रोतों से किसी भी देश के विकास के संस्कृति-सिन्धु का निर्माण करते हैं। इनका दाय उतना ही जरूरी है, जितना जड़ों का मिट्टी में होना और मिट्टी में नमी का होना। अतः बोलियाँ पगडंडियाँ हैं, जो किसी भी महादेश की राजभाषा के राजपथ पर लोक की शक्ति को लाकर खड़ा कर देती हैं। इन बोलियों की समग्रता पर कार्य करने वाले की महत्ता इस मायने में और अधिक रेखांकित करने योग्य हो जाती है।

श्री बाबूलाल सेन निमाड़ी के साधक और लोक-संस्कृति के आराधक का नाम है। 14 सितम्बर 1931 को महेश्वर की धरती पर एक शिशु ने आँखें खोली। उस दिन की सुबह सूरज की किरणों से और उजली हो उठी थी। रेवा के जल में सूरज अभीर घोल रहा था। नर्मदा की लहर-लहर पर लोरी और सोहर के स्वर तैरने लगे थे। महेश्वर के घाट बालक की किलकारियों से गूँज उठे थे। हवाएँ दूर देश से आकर बालक के गालों पर हौले से थपकियाँ देने लगी थी। बालक होंठों में हँसता था, हाथों से कर्म की बारहखड़ी लिखने के संकेत दे रहा था। महेश्वर का एक घर उत्सव से भर उठा था। आज वह घर पूरे निमाड़ का महत्वपूर्ण कर्म-केन्द्र बन गया है।

‘शारदा सदन’ अपने नाम के अनुसार सरस्वती की साधना-आराधना स्थल बन गया है। वह बालक 77 वर्ष का हो गया है, पर उसके कार्य और मेहनत रचनात्मकता की परवान चढ़ रहे हैं।

श्री सेन ने शासकीय सेवा में रहकर शिक्षकीय दायित्व का निर्वाह किया। लगातार लोक-साहित्य की रचना, शोध, अनुवाद पुनर्लेखन और साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के संचालन-संयोजन में लगे रहे। उनके ‘हर-हर रेवा मैया’ (काव्य), ‘मुर्गे का ब्याह’ (लोक कथाएँ), ‘महेश्वर दर्शन’ (पर्यटन), ‘नर्मदाचंल के संत कवि’ (शोध) आदि ग्रंथ रचनाशीलता, शोधवृत्ति और लोक-साहित्य प्रेम के प्रमाण हैं। ‘माहिष्मति स्मारिका’ और ‘निमाड़ी गीत गंगा’ का सम्पादन कर अनेक पुरातात्विक स्थलों और निमाड़ के अनेक रचनाकारों को साहित्यिक परिदृश्य पर लाने का कार्य किया। अनेक संस्थाओं-समितियों में सक्रिय हिस्सेदारी एवं सदस्यता उनकी गतिमानता और हुलस की परिचायक है। निमाड़ी के आधुनिक कवि, निमाड़ी गद्य का विकास, निमाड़ी के पारम्परिक संस्कार गीत, निमाड़ी लोक नाट्य मंच के कलाकारों का परिचय और मध्यप्रदेश की लोक भाषाएँ आदि कृतियाँ शीघ्र प्रकाशित होने वाली हैं। श्री सेन ने अपने तरीके से निमाड़ के संस्कृति पुरुष पं. रामनारायण उपाध्याय की परम्परा को लोक-साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाया। अपनी मिट्टी, अपनी वाणी और अपने देश से अटूट प्रेम का प्रतिदान श्री सेन ने इतने ग्रंथों की रचना से दिया है। निरंतर कार्य करते रहने और कलम को शब्द-रचना से सार्थकता देते रहने की एकनिष्ठता और लोक साहित्य के प्रति समर्पण ने श्री सेन को नर्मदा तट का साहित्य साधक बना दिया है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि बड़ा काम करने के लिए बड़ी-छोटी जगह महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि संकल्पशीलता और श्रम जरूरी होता है।

निमाड़ के लोगों का भोलापन और घोर श्रमशीलता दोनों सेन जी के पास थी। निमाड़ पत्थर में से पानी और पहाड़ में से जीवन निकालता है। सेन जी ने निमाड़ी के बिखरे मनकों को समेटा। इतिहास, साहित्य, संस्कृति, कला और लोक से जुड़े अनेक आयामों पर लिखा। अपने क्षेत्र के इन आयामों और इनके

रचना व्यक्तियों को जन-जन तक लाने का काम किया है। ‘अफजल साहब’ के साहित्य का पुनर्लेखन और उसके अनुवाद को लेकर वे विगत दो वर्षों से कावरे-बावरे रहे। आखिर वह काम पूरा किया। एक बेपीर की पीर लेकर वे लोकभाषा साहित्य में धँसे और बाहर निकले तो पाया कि लोक का रंग उन्हें पूरी तरह अपने रंग में रंग चुका है। वे लोकधर्मी साधक और साहित्यकार बन गये। वे सदैव लोक-साहित्य, निमाड़ और लोकभाषा को लेकर सोचते रहे। योजना बनाते रहे। उस पर कार्य करते रहे और अपना काम दुनिया की हथेली पर रखते रहे। बगरी वस्तुओं को समेटना आसान नहीं है। यह श्रमसाध्य कार्य वे बड़ी फुरक के साथ करते रहे। एक आशा अनवरत नाचती रही है।

‘हर-हर रेवा मैया’ की कविताएँ निमाड़ी में हैं। इसमें सेन जी ने अपनी अनुभूतियों को छंद के अनुशासन में प्रस्तुति दी है। कवि ने अपने परिवेश और उसमें खड़े मनुष्य को साबुत बचा ले जाने की प्रणशीलता दोहराई है। सेन जी का रचनाकार इन निमाड़ी गीतों में अपने मौलिक रूप में प्रसार पाता है। साफ-साफ पहचान बनाता है। कल्पना की उड़ान भी इनमें है, पर कवि अपनी जमीन को भूलता भी नहीं है। जिन्दगी का ठोस यथार्थ भी उसके सामने हैं, जिस पर खड़े होकर वह अपने समय से बात करता है। इन कविताओं में निमाड़ व्याख्या पाता है। जन-जीवन की धड़कन इनमें सुनी जा सकती है। रेवा की अभ्यर्थना, संस्कृति से जुड़ाव और राष्ट्रप्रेम की अनुगूँज इनमें पसरी हुई है। आनुभूतिक तड़प लिए कवि कविता कर्म में प्रवृत्त होता है। अपने आसपास की अभिव्यक्त करता है और अपने क्षेत्र के अवदान और मनुष्य के दाय को राष्ट्र की मुख्य धारा के संदर्भ में रेखांकित करता है।

अन्य रचना कृतियों में सेन जी का खोजी और संग्रहकर्ता व्यक्तित्व ही परिभाषित हुआ है। डूबते को बचा लेना, नष्ट होते को सुरक्षित कर लेना। घूरे पर कमल खिला लेने के इस भाव ने ही उनसे ‘ढोर मेहनत’ करायी है। परिणाम से उजड़ती हुई भाषा-संस्कृति की विरासत को निमाड़ के कोण में रचनात्मकता और सहारा दोनों मिले हैं। सेन जी का यह प्रयास स्तुल्य है। बावजूद इसके उनका व्यक्तित्व नर्मदा की जल रेखा की तरह तरल था। निमाड़ की माटी की नरमाइश की तरह नम्र था। भोळई निमाड़

की तरह सहज-सरल था। उनसे मिलकर निमाड़ के स्वभाव से संपर्कित होने का सुख मिलता था।

मेरी उनसे पिछले आठ-दस वर्षों में कई साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजनों में आत्मीय भेंट हुई। हमेशा मुझे वे रचना-कर्म में डूबे और अपने समय के साहित्यिक प्रश्नों से जुझते हुए मिले। स्वभाव की निश्छलता ऐसी कि नदी के शांत जल में अपना प्रतिबिम्ब निहार लो। बातों की सरलता और शीतलता में ओंस कर्णों की नमी महसूस होने लगे। व्यक्तित्व की गम्भीरता शरद की बहती नदी के सम पर जाकर ठहर गयी हो। उनसे

मिलकर अच्छा लगता था। बात करने से रचनात्मक उत्साह बढ़ता था। वे अंत समय तक साहित्य रचना में निमग्न रहे। यह प्रेरणाप्रद है। वे पचास वर्षों तक साहित्य-साधना कर रहे। एक साहित्यकार की साधना का मूल्य जन-मानस में बनी हुई जगह ही हो सकती है। वरन् वाणी की आराधना का कोई मोल नहीं। आज उनकी देह धरती पर नहीं है, लेकिन उनके कार्यों की सुगंध को अब भी महेश्वर और निमाड़ की सांस्कृतिक विरासत में महसूस किया जा सकता है। निमाड़ के मन में उनकी स्मृति अमर रहेगी।

## सेना नायक कवि : लालकवि गोरे लाल

सुधा तैलंग

बुन्देलखण्ड की राजधानी पन्ना के महाराजा छत्रसाल के सचिव एवं गुरु आंध्रप्रदेश निवासी महाकवि गोरेलाल भट्ट तैलंग का काव्य साहित्य हिन्दी साहित्य की अनमोल धरोहर है। जिन्होंने राजशाही परंपराओं के जीवन मूल्यों का निर्वाह करते हुए दरबारी कवि के पद में रहते हुये भी स्वतंत्र होकर लेखन किया।

गोरे लालजी का जन्म चैत्र शुक्ल नवमी संवत् 1960 को पन्ना जिले की अमानगंज तहसील के ग्राम दग्धा में दीनानाथ के घर हुआ। ऐसा उल्लेख आपके ज्येष्ठ पुत्र लोकनाथ के अपने ऐतिहासिक ग्रंथ 'जगत प्रशस्ति' में किया है-

*नभ निधि नवमी अरु चन्द्रवर, विक्रम वर्ष प्रमान।*

*चैत्र शुक्ल नवमी सुभग, लाल जन्म सुखदान।*

गोरेलाल बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। माँ जगदम्बा की धार्मिक व उदार मन प्रवृत्ति का उन पर बेहद गहरा प्रभाव पड़ा। पिता ने घर पर ही आपको शास्त्रों की शिक्षा दी। आप हिन्दी, संस्कृत, साहित्य के अलावा राजनीति के प्रकांड विद्वान थे। धर्मशास्त्र व पुराणों का गहन अध्ययन किया। लेखन में रूचिबाल्य काल में ही जागृत हुई। काव्य प्रतिभा के चलते खेल-खेल में बातों-बातों में ही काव्य रचना करते देख, पिता ने प्रोत्साहन दिया। आगे जाकर गोरेलाल छत्रसाल पन्ना महाराज के दरबारी कवि के रूप में रहते हुए 'लाल कवि' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

लाल कवि ने स्वयं अपने बारे में परिचय देते हुए 'जगत् विनोद' ग्रंथ के छन्द में कहा है-

ऋग्वेदी तैलंग द्विज, गोरे लाल सुनाम ।  
कृष्ण उपासक युद्ध रत, वास सुदग्धा ग्राम ॥  
अचरज छत्रसाल को, वेद मूर्ति विख्यात ।  
अश्व सेव्यपति राजकवि देश-देश विख्यात ॥

कवि द्वारा दिये गये परिचय से ज्ञात होता है कि वे महाराज छत्रसाल के राजगुरु, राजकवि, सेनापति व सामरिक सचिव भी रहे हैं। बुन्देलखण्ड केसरी छत्रसाल स्वयं विद्वान साहित्य प्रेमी थे। विद्वानों का आदर करते थे। उनके दरबार में भूषण कवि का आदर पूर्ण स्थान था। छत्रसाल के दरबार में रहते हुए लालकवि गोरेलाल ने अनेक रचनाएँ लिखीं, जो छत्रसाल को समर्पित रही। उनकी वीरता, उदारता का वर्णन करते हुये भी लालकवि ने उनकी प्रशंसा के साथ, कमजोरियों को भी दर्शाया है, ये उनकी निष्पक्षता व निडरता का पक्ष उजागर करता है। राज्याश्रित रहते हुए भी लाल कवि ने यथार्थ चित्रण किया है। उनके इसी गुण पर छत्रसाल भी उनकी प्रशंसा करते थे।

लाल कवि द्वारा लिखित हैं- राज-विनोद, लाल चन्द्रिका, बरपै, छत्रछाया व छत्र कीर्ति आदि। इनमें से 'छत्र प्रकाश', 'राज विनोद' व 'विष्णु-विलास' तीन ग्रंथ ही प्रकाशित हो पाये हैं।

छत्रप्रकाश - ग्रंथ लाल कवि की कीर्ति स्तंभ रचना कही जा सकती है। इस ग्रंथ का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा ने किया है। उसमें छत्रसाल का 1764 का ही वृत्तान्त, जीवन चरित्र का वर्णन किया है। लाल कवि ने बुन्देला वंश की उत्पत्ति, चंपत राय की विजय यात्रा, वीरता, मुगलों को पराजित करने की घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया है। चौपाई व दोहा छंदों में वर्णन है। ग्रन्थ में शिवाजी पर छत्रसाल की भक्ति और श्रद्धाभाव का दृश्य खींचते हुये कवि ने देश की तत्कालीन दशा का भी सजीव व यथार्थ वर्णन किया है।

छत्रकीर्ति ग्रंथ की रचना प्रौढ़ व काव्य लक्षणों से परिपूर्ण लालकवि की प्रबंध पटुता की मिसाल है। उसमें शब्द वैचित्र्य तथा चमत्कार की कृत्रिमता नहीं। कल्पना की उड़ान नहीं है। बल्कि स्वाभाविक उक्तियाँ हैं। सभी घटनाएँ ब्यौरवार व सच्ची

हैं, ऐतिहासिक घटनाएँ ज्यों की त्यों कवि ने वर्णित की हैं। युद्धों के वर्णन में तो लाल कवि को सिद्धहस्तता हासिल थी- दृष्टव्य है-

छत्रसाल हांडा तंह आयो, अरून रंग आवन छवि छायो ।  
भयो हरोल बजाय नगारों, सार घाट को पीहर ना हारो ।  
कारि कटक किरवान बल, बाँटि जबुं कानि देऊ ।  
उरि युद्ध यहि रीति साँ, बाँटि धरनि धरि लेहु ॥

काव्य में युद्ध भूमि व छत्रसाल की वीरता का अत्यन्त सजीव व वीर रस से पूर्ण शब्द चित्र प्रस्तुत किया है। लाल कवि का वर्णन जो भूषण कवि के युद्ध वर्णन के समकक्ष ही प्रभाव पूर्ण कहा जा सकता है। अनुप्रास अलंकार की छटा के संग शब्दों का चयन लोक-मानस में वीरता के भाव जगाने का सामर्थ्य रखता है।

अपने आश्रय दाता राजा की प्रशंसा में कवि हृदय से निस्सृत उद्गार देखें-

लखत पुरुष लच्छन सब जाने,  
पंछी बोलत सगुन बखाने ।  
सत कवि कवित्त सुनत रस पाये,  
बिलसति मति अरपन में आये ।  
रूचि सो लखत तुरंग गो नीके,  
विहँसि लेत मोजरा सब हीके ।

छत्रप्रकाश काव्यमय ग्रंथ-जायसी के पद्मावत व तुलसी के राम चरित मानस के समकक्ष कहा जाता है। इसकी भाषा ब्रज व बुन्देलखण्डी मिश्रित है। कालजयी ग्रंथ का अंग्रेजी में अनुवाद लेटिन पागसन ने किया और सन् 1829 में विलियम कॉलेज कलकत्ता से इसका प्रकाशन भी किया गया। पर क्रूर काल के प्रवाह में व असावधानी वश ये दुर्लभ ग्रंथ अब अप्राप्य है। लाल चंद्रिका में बिहारी की सतसई की टीका है।

छत्र-विलास में लाल कवि ने श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण के अवतार से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा को रोचक शैली में प्रस्तुत किया है।

विष्णु विलास में बरवै छंदों में नायिका भेद का अपूर्व

वर्णन है। लालकवि ने वीर रस भक्ति से परिपूर्ण काव्य की रचना की है। कूटनीति, राजनीति व युद्धनीति का भी आपको पूर्णतया ज्ञान था, जिसका उदाहरण दृष्टव्य है-

*तेग छाड़हैं देश में, देश आड़हैं हाथ।  
शत्रु भागि है मानि, भय लोग लागि है साथ।।*

लालकवि का काव्य कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टि से सबल, प्रभाव पूर्ण कहा जा सकता है। काव्य शास्त्रीय मानकों में खरा उतरता है। रीतिकालीन कवियों में शब्द नाद के प्रयोग की प्रचुरता पाई जाती है। किंतु लाल कवि ने इनका प्रयोग केवल काव्य वैचित्र्य व कौतूहल वृद्धि हेतु नहीं किया।

गोरे लाल भट्ट 'तैलंग' को लालकवि उपनाम से ही आज भी पहचाना जाता है। उत्तरप्रदेश, बाँदा के लाल चौक में इस महान कवि की मूर्ति आज भी देखी जा सकती है। कहा जाता है कि आप बड़े निडर, सत्यनिष्ठ व प्रत्युत्पन्नमति थे। एक

बार शेर खान के साथ युद्ध में महाराजा छत्रसाल को भी युद्धस्थल से भागना पड़ा। इसका वर्णन उन्होंने अपने ग्रंथ छत्रप्रकाश में निर्भयता पूर्वक किया है। छत्रसाल के दरबार में लालकवि का बेहद सम्मान होता था। छत्रसाल ने आपको अमानगंज पठारा, सगोरा, बड़ई व दग्धा आदि ग्राम दान में दिये। वहीं पर आज भी इनके वंशज निवास करते हैं।

लालकवि के निधन के बारे में पं. लोकनाथ ने अपने ग्रंथ 'जगत-प्रशस्ति' में संवत् 1815 में किसी युद्ध में होने का उल्लेख किया है। एक अन्य मत के अनुसार आपका निधन छत्रसाल के काल में, तो किसी अन्य महानुसार उनकी मृत्यु के बाद माना जाता है। कुछ लोगों के अनुसार लालकवि छत्रसाल के पुत्र जगत् राज के शासन काल में भी जीवित थे। साहित्य प्रेमी, वीर, कूटनीति, राजनीति के गुणों से परिपूर्ण गोरेलाल 'लालकवि' आज भी बुंदेलखण्ड के गौरव कहे जाते हैं।

## लोक संस्कृति के संरक्षण में ओरछा राज्य

हरिविष्णु अवस्थी

सोलहवीं सदी से ओरछा राज्य (वर्तमान जिला टीकमगढ़ मध्यप्रदेश) बुन्देली भूमि का शक्तिपुंज या मस्तिष्क रहा है, जिसने समूचे क्षेत्र की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं का विकासात्मक मार्गदर्शन किया। इस भूमि के शासक बुन्देला क्षत्रिय जो परम शौर्यवान, कथनी करनी के कायल तथा जिनका कलम और करवाल पर समान अधिकार रहा। इस बुन्देल जनपद में ऐसे घुल मिल गये थे, जैसे समीर में सौरभ। भूमि बुन्देलखण्ड, जिसके शासक बुन्देला, प्रजा बुन्देलवासिनी, भाषा बोली बुन्देली, यही सब बुन्देलखण्ड की भावात्मक एकता का सशक्त आधार रहा है।

गढ़कुंडार नरेश रुद्र प्रताप ने सन् 1510 ई. में ओरछा को अपनी राजधानी बनाया। बुन्देला नरेशों ने अपनी सांस्कृतिक विरासत को सहेजने का शुभ कार्य आरंभ किया। धीरे-धीरे ओरछा राज्य बुन्देलखण्ड का शक्तिपुंज बन गया। रुद्रप्रताप (1501-30 ई.) से लेकर वीर सिंह देव द्वितीय (1930-56 ई.) तक हुए सभी नरेशों ने बुन्देली लोक संस्कृति को बनाये रखने की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया।

ओरछा नरेश वीरसिंह जू देव 'द्वितीय' ने 3 मार्च 1930 ई. को राज्य भार ग्रहण किया था। अपनी बुन्देली संस्कृति के संरक्षण हेतु उन्होंने लोकभाषा साहित्य, लोककलाओं, लोक विश्वास, प्रचलित रीतिरिवाज, उत्सव, पर्व-त्योहारों को बनाये रखने हेतु जो भी उपाय संभव थे, सभी का उपयोग किया। अभिप्राय यह कि लोक की मानसिक सम्पन्नता के अंतर्गत जो भी क्रिया-कलाप आ सकते हैं, उन सभी के संरक्षण हेतु ओरछेश ने प्रयास किये।

टीकमगढ़ नगर के निकट 6 कि.मी. की दूरी पर स्थित सुप्रसिद्ध प्राचीन कुण्डेश्वर स्थान पर जहाँ लगभग 5 फुट ऊँचाई का लिंगाकार स्वयंभू शिवलिंग प्रतिष्ठित है, में प्रतिवर्ष मकर संक्रांति, बसंत पंचमी एवं महाशिवरात्रि के अवसर पर एक दिवसीय मेला आयोजन विगत सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा था। भक्तजन सबेरे आते, कुण्ड में स्नान करते, भोले भगवान का जलाभिषेक कर दर्शनकर अपने अपने गाँवों को प्रस्थान कर जाते थे।

ओरछेश वीरसिंहजू देव द्वितीय ने कुण्डेश्वर मेला को मकर संक्रांति से लेकर बसंत पंचमी तक लगवाने की व्यवस्था करवाई और मेला को वीर वसंतोत्सव नाम दिया गया। मेले में प्रदर्शनी लगाई जाती है, जिसमें स्थानीय स्तर पर विभिन्न विधाओं के कलाकारों द्वारा निर्मित, उत्पादित वस्तुओं, अध्ययनरत छात्र-छात्राओं द्वारा निर्मित वस्तुओं का प्रदर्शन किया जाता था। मेला समापन पर इन कलाकारों को पुरस्कृत किया जाता था।

मेले में आये लोगों के मनोरंजन हेतु शाम को नित्य प्रति लोक गायकों, लोक नर्तकों, लोककलाकारों द्वारा विभिन्न प्रकार के आयोजनों की व्यवस्था इस प्रकार की जाती थी कि दर्शक समय पर अपने गाँव वापिस भी पहुँच सके।

लोक संस्कृति से सम्बद्ध इन आयोजनों के अतिरिक्त कवि सम्मेलन का भी आयोजन होता था। सन् 1933 ई. के आयोजन में तो देश की जानी मानी कवयित्रियाँ महादेवीजी वर्मा एवं सुभद्रा कुमारीजी चौहान ने एक मंच से काव्य पाठ किया था।

ज्ञातव्य है कि सन् 1933 ई. के वीर वसंतोत्सव के मेला में ही ओरछेश वीरसिंहजू देव द्वितीय द्वारा हिन्दी साहित्य के देश के सर्वोच्च पुरस्कार श्री वीर सिंह देव पुरस्कार, संक्षिप्त नाम देव पुरस्कार की घोषणा की गई। उस समय हिन्दी साहित्य के सम्मानों में मंगला प्रसाद एवं सेकसरिया सम्मान में 1000/- एवं 1500/- रुपये की राशि प्रदान की जाती थी। वीरसिंह देव ने सम्मान की राशि 2000/- रुपये की थी। अब यह सम्मान मध्यप्रदेश शासन द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिवर्ष दिया जाता है तथा वर्तमान में सम्मान राशि 21000/- रुपये है।

वीर वसंतोत्सव मेला की ख्याति उसके लोक सांस्कृतिक स्वरूप के कारण देश व्यापी हो गई थी। देश के सुप्रसिद्ध लोक

साहित्य के संग्राहक श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी को भी जब इसकी जानकारी हुई तो वह पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी जो इस समय कलकत्ता में रहकर 'विशाल भारत' नामक अपने समय के सुप्रसिद्ध मासिक का सम्पादन कर रहे थे, का ओरछेश वीरसिंहजू देव के नाम एक पत्र लेकर 1938 ई. में टीकमगढ़ पधारे थे।

ध्यातव्य है कि ओरछेश वीरसिंहजू देव 'द्वितीय' की 'शिक्षा दीक्षा' डेली कालेज इन्दौर में हुई थी, और पं. बनारसीदास चतुर्वेदी उस समय डेली कालेज में हिन्दी विषय के शिक्षक थे। वीरसिंह के लोक संस्कृति एवं लोक भाषा बुन्देली के साथ-साथ हिन्दी प्रेम के कारण वह वीरसिंह से बहुत प्रसन्न थे। दोनों के मध्य आत्मीय संबंध उसी काल में स्थापित हो गए थे।

'लोकगीत की विजय' शीर्षक आलेख में देवेन्द्र सत्यार्थीजी ने अपनी टीकमगढ़ यात्रा तथा ओरछेश से भेंट का बहुत सुंदर वर्णन किया है, जिसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है-

'जिन महानुभावों की मेरी लोकगीत यात्रा पर गहरी छाप है, उनमें एक नाम है- महाराज वीरसिंहजू देव।

सन् 1938 की बात है। मुझे टीकमगढ़ जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कलकत्ता से चलते समय 'विशाल भारत' के लेखक के नाते श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी का एक सिफारिशी पत्र मिल गया। टीकमगढ़ में मुझे सपरिवार एक शाही मेहमान की तरह रखा गया।

उनके आदेश पर मैंने उन्हें सर्वश्रेष्ठ बुंदेलखण्डी लोकगीत सुनाया, जिसमें कुछ इस तरह के शब्द थे-

चौरई नौरपा तोरे दिन कढ़ गये,  
घूमा ठाड़ो विनती करै कोई टोरै फुन्दनियाँ मोर।

अर्थात्, चौरई और नौरपा का मौसम तो खत्म हो गया--। घूमा नामक साग खड़ा विनती कर रहा है- 'काश। कोई मेरे फुन्दने जैसे फूल तोड़े और घर जाकर साग पकाये।

यह लोक गीत सर्वश्रेष्ठ कैसे हुआ? महाराज ने पूछा।

मैंने डरते-डरते कहा,  
'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नः।



महाराज और भी गंभीर हो गये। फिर बोले- 'यह गीत कहाँ मिला?

'टीकमगढ़ जेल से।'

अच्छा तो आप जेल भी हो आये।-----

'देखेंगे।' महाराज ने कड़कदार आवाज में कहा और मेरे हाथ में एक लिफाफा थमाते हुए कहा- 'कुछ पत्र पुष्प मार्ग व्यय के लिए।' यह थी लोक-गीत की विजय।'

श्री देवेन्द्र सत्यार्थीजी की इस भेंट के फलस्वरूप ओरछेश वीरसिंहजू देव के मन में लोकसाहित्य के संकलन एवं प्रकाशन का विचार जोर मारने लगा। इस हेतु एक पत्र का प्रकाशन आवश्यक समझ पं. बनारसीदासजी से सम्पर्क किया और उन्हें पत्र के सम्पादन कार्य हेतु मना लिया।

श्री वीरेन्द्र केशव परिषद् टीकमगढ़ जिसकी स्थापना ओरछेश की सलाह पर राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री रायबहादुर राव राजा डॉ. श्याम बिहारी मिश्र 'मिश्रबंधु' ने 15 अप्रैल 1930 को की थी तथा इसी परिषद् के माध्यम से 'वीरवसंतोत्सव' का मेला सम्पन्न होता था, को 'मधुकर' नाम से एक पाक्षिक पत्रिका के प्रकाशन का भार सौंपा गया।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन में 1 अक्टूबर से 'मधुकर' पाक्षिक का प्रकाशन श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा आरंभ हुआ। इस प्रवेशांक में 'मधुकर' की रीति-नीति को स्पष्ट करते हुए श्री बनारसीदासजी ने सम्पादकीय में लिखा- 'यद्यपि' मधुकर का क्षेत्र जानबूझकर परिसीमित रखा गया है, क्योंकि परिमित क्षेत्र में ठोस कार्य करने की अधिक सुविधा एवं संभावना है, तथापि उसका दृष्टिकोण व्यापक होगा 'मधुकर' देश-विदेश के सांस्कृतिक उपवनों से जीवनप्रद रस ग्रहण करके जनता के सम्मुख रखेगा।... अपने परिमित क्षेत्र में वह विचारों की स्वाधीनता का पूर्ण समर्थक होगा और दूसरों के प्रति सम्मान तथा सहिष्णुता उसके जीवन के सर्वोच्च नियम।<sup>2</sup>

'मधुकर' ने बुंदेलखण्ड के साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक विकास की चेतना जन-जन में जागृत की।

सैकड़ों वर्षों पूर्व रचित हिन्दी बुंदेली एवं संस्कृति संबंधी

कृतियों के प्रकाशन के साथ ही साथ साहित्य सृजन हेतु नवयुवकों को प्रेरित किया। बुंदेली भाषा के विलुप्त होते शब्दों, लोकगीतों, लोक गाथाएँ, लोक नाट्य, बुझौवल, मुहावरों, कहावतों आदि का संकलन एवं उनके प्रकाशन का कार्य मधुकर द्वारा निरंतर होता रहा। संकलन कर्त्ताओं को उनके संकलन अनुसार प्रोत्साहन के रूप में धनराशि भी उपलब्ध कराई गई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोक संस्कृति के अध्येताओं को इससे काफी प्रेरणा मिली। फलस्वरूप श्री कृष्णानंदजी गुप्त द्वारा 'बुंदेली कहावत कोश' एवं लोककवि ईसुरी की चौकड़ियाऊ फागों के दो संकलन प्रकाशित किये गये।

'मधुकर' के प्रवेशांक में ही श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा, देश के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार का एक 'हमारी संस्कृति के आधार' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख में उन्होंने लिखा था कि- 'देहात में प्रचलित समर्थ शब्द हमारी सांस्कृतिक धमनियों के प्रबल रक्त कण हैं। उन्हीं से हमारा जीवन बनेगा और प्रबल तथा प्रबलतम होगा।' इसलिए ग्रामगीत, ग्राम कहावतें, ग्राम- कहानियों इत्यादि का संग्रह शुरू कर दिया गया है। अमीर खुसरो ने 600-700 वर्ष पूर्व कहा था कि- अरबी को छोड़कर फारसी इत्यादि कोई जबान ऐसी नहीं है, जिसमें इतने सार्थक और समर्थ शब्द हैं, जितने हिन्दी में हैं। वे अधिकतर गाँवों में थे और अब भी बहुत कुछ गाँवों में हैं।<sup>3</sup> इस लेख ने पाठकों को बहुत प्रभावित किया और 'मधुकर' के दूसरे अंक से ही बुंदेलखण्ड की कहानियाँ, ईसुरी की फागों आदि लोक साहित्य का प्रकाशन आरंभ हो गया। यदि यह कहा जाय कि लोक कवि के रूप में 'ईसुरी' को स्थापित करने का श्रेय यदि किसी के खाते में जाता है, तो वह 'मधुकर' पत्र को ही है।

'मधुकर' के समय-समय विभिन्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण विशेषांक भी प्रकाशित हुए। यथा- बुंदेलखण्ड प्रांत निर्माण अंक, बुंदेलखण्ड परिषद् अंक, जनपद आंदोलन अंक, बुंदेलखण्ड साहित्य सम्मेलनांक, पत्रकार कला विशेषांक तथा रेखा चित्रांक। श्री शिवसहाय चतुर्वेदी देवरी (सागर) जो 'मधुकर' में नियमित रूप से बुंदेली कहानियाँ लिख रहे थे, के लोक गीतों और लोक कथाओं के संग्रह भी प्रकाशित हुए।

कुण्डेश्वर से 16-7-40 को उन्होंने ओरछेश वीरसिंहजू

देव को पत्र लिखा था कि 'लीजिये बुंदेलखण्ड साहित्य मण्डल के कारण एक शुभकार्य का सूत्रपात हो गया है। 900 बुंदेलखण्डी कहावतों का संग्रह तैयार है। उसका सम्पादन कैसे होगा? मैं तो बुंदेलखण्डी भाषा के विषय में बहुत ही कम जानता हूँ। इसमें संदेह नहीं है कि आपकी भाषा में सजीवता है। अब मेरा विश्वास होता जाता है कि आप ठीक कहते थे। पहले तो मैं समझता था कि आप अपनी पितृभाषा की तारीफ Varsity या व्यर्थाभिमान के कारण कर रहे हैं।'<sup>4</sup>

'मधुकर' कार्यालय में प्रकाशनार्थ आने वाली सामग्री की मात्रा दिनोदिन बढ़ती गई। प्राप्त हुई पूर्ण सामग्री का प्रकाशन संभव न होने के कारण इतनी अधिक सामग्री एकत्र हो गई कि उसके रख रखाव की समस्या आ खड़ी हुई। इस सम्बंध में जब बनारसीदास चतुर्वेदी ने ओरछेश से चर्चा की तो उन्होंने उपलब्ध सामग्री के सदुपयोग हेतु और पत्र के प्रकाशन की स्वीकृत प्रदान कर दी, जिसमें संग्रहीत लोक संस्कृति संबंधी सामग्री का प्रकाशन सुनिश्चित हो सके।

इस हेतु टीकमगढ़ में लोकवार्ता परिषद् की स्थापना हुई 'जिसमें एन.सी.मेहता, डॉ. वेरियर एलविन, रामनरेश त्रिपाठी, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे और भी कई विशिष्ट व्यक्ति प्रथम मनोनीत सम्मानित सदस्य बने। श्रीकृष्णानंद गुप्त उसके सचिव थे। शीघ्र ही संस्था द्वारा एक त्रैमासिक पत्र प्रकाशित किया गया। उसका नाम रखा गया 'लोकवार्ता'। इस पत्रिका के कुल 6 ही अंक प्रकाशित हो सके। किंतु इन 6 अंकों में जो ठोस और उपयोगी सामग्री प्रकाशित हुई, उसने लोक साहित्य के प्रेमियों और अध्येताओं को इस विषय के अध्ययन को एक नई दिशा का ज्ञान कराया।'<sup>5</sup>

लोकवार्ता वर्ष 2 अंक 1 जनवरी 1946 के पृष्ठ 46 पर अपने आलेख में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लोकजीवन को महामहिम शब्द से विभूषित किया है। वह 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' पत्रों के बहुत प्रशंसक थे, उन्होंने श्री कृष्णानंद गुप्त को लिखा था कि- 'मेरे यहाँ जितनी पत्रिकाएँ आती हैं, उनमें 'मधुकर' और लोकवार्ता दो को मेरा मन विशेष रुचि के साथ ग्रहण करता है। हमारा लोकजीवन बहुत विशाल और गहरा है। भारतीय इतिहास का कोई युग ऐसा नहीं है, जिसके पुरातत्त्व की सामग्री शब्दों के रूप में लोक जीवन में कहीं न कहीं छिपी न पड़ी हो। ऐसे गूढ़ महामहिम लोकजीवन के पुष्कल अध्ययन की चारों ओर आवश्यकता है।'<sup>6</sup>

'लोकवार्ता के इन 6 अंकों में डॉ. वेरियर एलविन, विद्वर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय जैसे विद्वानों के लेख प्रकाशित होते रहे। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तो उसके प्रत्येक अंक में कुछ न कुछ लिखते रहे।'<sup>7</sup>

ओरछा राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना के पूर्व ही 'लोकवार्ता' का अंतिम अंक वर्ष 2 अंक 2 अप्रैल 1946 के पश्चात् तथा 'मधुकर' का प्रकाशन दिसम्बर 1946 के पश्चात् बंद हो गया।

ओरछा राज्य का रूप परिवर्तित होकर वह विन्ध्यप्रदेश का एक जिला टीकमगढ़ के रूप में जाना जाने लगा। ओरछेश वीरसिंहजू 'द्वितीय' अपने जीवन के अंतिम वर्षों तक बुंदेली लोक संस्कृति के संरक्षण हेतु जो भी संभव था, करते रहे। देश की स्वतंत्रता के पश्चात् लोक संस्कृति का क्षरण बहुत तेजी के साथ होने लगा है। यदि अपनी संस्कृति के रक्षार्थ अभी से प्रयास नहीं किये गये तो लोक संस्कृति अपना अर्थ खोकर एक अर्थहीन शब्द मात्र रह जायेगा।

## संदर्भ

1. पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, सम्पादक- ओरछेश स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ 109-110
2. पं. बनारसी दास चतुर्वेदी, सम्पादक- 'मधुकर' पाक्षिक प्रवेशांक 1 अक्टूबर 1940 पृष्ठ 2-3
3. पत्र की छाया प्रति उपलब्ध है।
4. महेन्द्र द्विवेदी, सम्पादक-'मंगलप्रभात' साप्ताहिक का टीकमगढ़ दर्शन विशेषांक, पृष्ठ 83
5. कृष्णानंद गुप्त, सम्पादक 'लोकवार्ता' त्रैमासिक जनवरी 1946, पृष्ठ 46

## निमाड़ी और बुन्देली बोलियों पर हंस-कर्म

प्रेमशंकर रघुवंशी

प्रारम्भ में कृष्णलाल हंस अपना उपनाम सरसौधे लिखते थे। नाम के बाद के इस उपनाम को अध्ययनकाल में ही बदलकर उसकी जगह हंस लिखने लगे और अंत तक हंस ही रहे। पी-एच.डी. के बाद तो वे डॉ. हंस के नाम से ही जाने गये। भाषा विज्ञान का एक उच्चारण भेद मुख सुख होता है, जिसमें बोलने में कम से कम वर्णों द्वारा पूरा अर्थ ग्रहण करना अच्छा लगता है। डॉ. कृष्णलाल सरसौधे 'हंस' की जगह डॉ. हंस कहने में जो मुखसुख मिलता है, उसका जवाब नहीं। ऐसे लाजवाब डॉ. हंस ने बैतूल जैसी छोटी जगह पर रहकर केवल अध्यापन कार्य ही नहीं किया, शोध की दिशा में भी स्वप्रेरणा से अपने परिवेश में बोली जाने वाली बुन्देली और निमाड़ी बोलियों पर वैसा काम किया, जिसे प्रवर्तन कार्य के रूप में स्वीकार करना होगा।

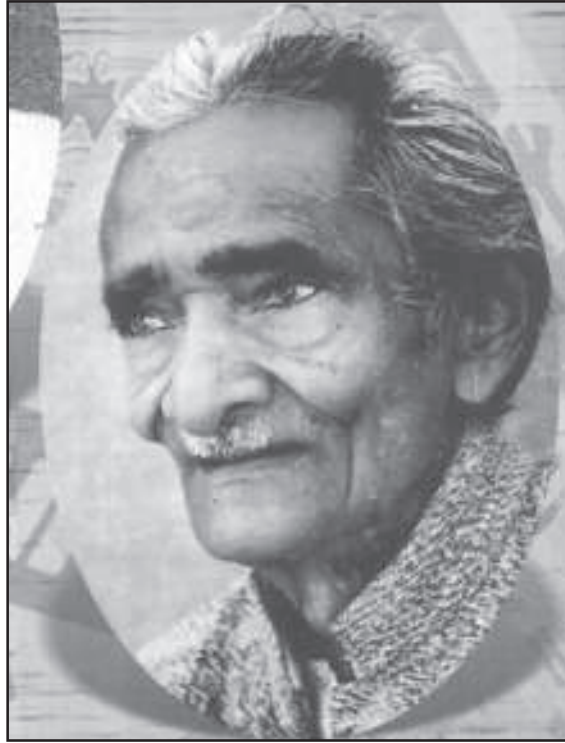
बुन्देली और निमाड़ी बोलियों के उनके हंस कर्म को उनके द्वारा रचित- 'बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप' तथा 'निमाड़ी और उसका साहित्य,' इन दो पुस्तकों में देखा जा सकता है। स्वप्रेरणा से रचित इन कृतियों के अलावा परप्रेरणा से किया उनका एक कार्य और है। वह है मध्यप्रदेश ग्रंथ अकादमी के उस समय के डायरेक्टर डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री के आग्रह पर उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य पर एक ग्रंथ की रचना की। यह बात शायद 1970 के आसपास की है, जब प्रभुदयाल जी ने नई कविता पर, डॉ. कांतिकुमार जैन से प्रयोगवादी कविता पर, डॉ. पवनकुमार मिश्र से छायावादी काव्य पर, डॉ. कृष्णचन्द्र वर्मा से और अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी काव्य पर डॉ. प्रमोद वर्मा से अपने-अपने विषयों पर प्रामाणिक ग्रंथ लिखवाये थे। इसी योजना के तहत अग्निहोत्री ने

डॉ. हंस से प्रगतिवादी काव्य पर ग्रंथ की रचना करवाई थी। स्वप्रेरणा और परप्रेरणा से रचित डॉ. हंस की किताबें भाषा, बोली और हिन्दी की काव्य प्रवृत्तियों को समझने-समझाने की दिशा में हर वक्त संदर्भ सामग्री के लिए उपयोगी रहेंगी। डॉ. हंस का यह प्रदेय रेखांकनीय है।

स्वप्रेरणा से किये काम की अपनी हैसियत होती है। एक मौलिकता होती है, उसमें इस दृष्टि से देखने पर डॉ. हंस की बुन्देली और निमाड़ी बोलियों पर लिखी किताबों का एक अलग तरह का महत्त्व है। डॉ. हंस की कर्मभूमि बैतूल रही जो बोली की दृष्टि से संयुक्त बोलियों का अंचल कहा जा सकता है। जहाँ कुछ-कुछ देशज मराठी, बुन्देली, निमाड़ी के साथ गोंडी, कोरकू बोलियों का सम्मिलित व्यवहार है। डॉ. ग्रियर्सन ने बुन्देली बोली को हरदा से शुरू होकर कालपी तक माना है। निमाड़ी का खरगोन-खंडवा क्षेत्र है। उसका आसपास क्षेत्रों में असर पाया जाना स्वाभाविक है। खासकर धन्धे व्यापार की दृष्टि से स्थान परिवर्तन एवं आवागमन की वजह से स्थापित-विस्थापित समाज अपनी बोली के साथ रहता है। इस रूप में बैतूल पर प्रारम्भिक बुन्देली और सम्मिश्रित निमाड़ी के प्रभाव ने हंसजी को इन दोनों बोलियों के क्षेत्रीय रूप एवं उनके साहित्य पर विचार प्रकट करने की प्रेरणा दी होगी, जिसके परिणाम हैं ये दोनों किताबें।

इन दोनों किताबों के महत्त्व पर विचार किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में जब 'बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप' किताब पर विचार करता हूँ, तब यह पाता हूँ कि बुन्देली बोली और बुन्देली के व्यापक भू-भाग के अलग-अलग क्षेत्र में प्रयुक्त बुन्देली पर विचार किया जाना महत्त्वपूर्ण है, ताकि अलग-अलग जगहों पर

बोली जाने वाली बुन्देली के अलग-अलग रूपों को ठीक से समझा जा सके। यदि हरदा, होशंगाबाद और बैतूल में बोली जाने वाली बुन्देली को सही बुन्देली मान लेंगे तो सागर जबलपुर से होकर कटनी, ललितपुर, झाँसी और कालपी की बुन्देली को क्या कहेंगे और कैसे समझायेंगे? जबकि ये ही कालपी तक के वे इलाके हैं, जहाँ बुन्देली का प्रौढ़ और पुष्ट रूप व्यवहृत होता है। जगनिक जैसे बुन्देली के वीर रस के कवि और ईसुरी जैसे श्रृंगार



रस के महान कवि इन्हीं क्षेत्रों के रहे। अवधी और ब्रज के समांतर बुन्देली एक ऐसी बोली है, जो हिन्दी भाषा में समाहित हिन्दी का एक रूप लगता है। अवधी, ब्रज और बुन्देली के खड़ी बोली में सम्मिलन होने की सामर्थ्य पर काफी विचार किया जा चुका है और किया जा रहा है। इन तीनों बोलियों का क्षेत्र और सर्जना व्यापार काफी विस्तृत रहा। अवधी को तुलसी आदि ब्रज को सूर और बुन्देली को जगनिक एवं ईसुरी जैसे समर्थ सर्जक मिले तो ये बोलियाँ भाषा की तरह समादृत हो गईं। 'जब तीनों मिल एक बरन भई सुरसरि नाम पर्यो' की तरह खड़ी बोली हिन्दी का अभिन्न रूप हो गई। कोई

भी भाषा अपने साहित्य और सत्ता के कार्य में व्यवहृत होने पर सम्पन्न होती है। इन तीनों बोलियों में अपार साहित्य है और सत्ताओं ने भी इन्हें अपने-अपने राज्यों की राजभाषा भी बनाया। झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई की राजभाषा बुन्देली बोली ही थी। इसके प्रमाण में डॉ. कांतिकुमार जैन ने अपने सम्पादन में निकलने वाली शोध पत्रिका 'ईसुरी' में झाँसी की रानी के हाथों लिखे सील ठप्पे लगे पत्र आदि छापकर प्रामाणिक सामग्री दी थी। 1857 के पूर्व रानी ने 'सुराज' पाने के लिए जिन राजे महाराजे को पत्र लिखे थे, वे बुन्देली में ही लिखे। 'सुराज' शब्द का सबसे पहले प्रयोग झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई ने ही किया, जो बुन्देली का शब्द है।

उन्होंने अपने पत्रों में राजाओं से सुराज लाने के लिए सहयोग की अपील की थी। सागर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत बुन्देली विभाग द्वारा 'ईसुरी' जैसी शोध पत्रिका और 'बुन्देली शोध संस्थान' द्वारा अब तक काफी काम हो चुका है और हो रहा है। शोध के इस विशाल पारावार में बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप के संदर्भ में प्राथमिक जानकारी की दृष्टि से डॉ. हंस की बुन्देली बोली पर उस काल की लिखी किताब का अपना महत्त्व है। इस तरह की प्रारम्भिक कृतियाँ ही वह दिशा दृष्टि देती हैं कि कैसे कोई बोली निरंतर विकसित होती हुई। अभिव्यक्ति के विविध क्षेत्रों में, अपने प्रयोग से भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है। आज बुन्देली के पास अभिव्यक्ति की वह शक्ति है कि वह अपने शब्दों से अर्थों के अनेकानेक कपाट खोल सके। 'सुराज' शब्द का मैंने इसी आलेख में उदाहरण दिया ही है कि गाँधी, तिलक, गोखले से भी पूर्व बुन्देली के इस अकेले शब्द ने देश भक्ति की अलख जगाकर पूरे देश को एकताबद्ध कर लाम पर खड़ा कर दिया गया।

दूसरी किताब निमाड़ी और उसका साहित्य विषय पर शायद निमाड़ी बोली पर पहले पहल लिखी किताब होगी। निमाड़ी का खंडवा-खरगोन और उसके आसपास का क्षेत्र है, जो गुजराती, मराठी, मालवी, राजस्थानी, भीली और बुन्देली बोली के संसर्गी क्षेत्रों के साथ कोरकू जनजाति की बोलियों वाले सम्पर्क साधनों से किसी न किसी रूप में जुड़ी है। यही कारण है कि कोई इसे गुजराती और कोई मालवी से प्रेरित-प्रवर्तित बोली के सन्निकट पाते हैं। कोई-कोई इसे जाति विशेष की बोली भी कह देते हैं, जैसे हमारे हरदा और होशंगाबाद, बैतूल आदि क्षेत्रों में यह नार्मदीय ब्राह्मणों की बोली के रूप में मानी जाती है। यह वह पढ़ा लिखा समाज रहा है जो काम धंधे के कारण निमाड़ अंचल से दूर-दूर तक फैलता रहा और अपनी नाभिक्षेत्र से भी जुड़ा रहा, तो इसकी बोली पर निमाड़ी की रवानी आज भी बनी है। निमाड़ी आज की बोली के रूप में मान्य है। उसका साहित्य ज्यादातर लोक जीवन और उसके कार्यकलापों की अभिव्यक्ति में व्याप्त है। निमाड़ी के पास अवधी जैसे कोई तुलसी आदि ब्रज जैसे कोई सूर मीरादि बुन्देली जैसे कोई जगनिक ईसुरी आदि नहीं हैं, जो उसको

भाषाई गरिमा तक ले जाते, फिर भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण बोली के रूप में सर्वमत से मान्य है और अपने मौखिक और वाचिक लोक साहित्य की समृद्धि से भरपूर है। इसलिए इसके साहित्य को एकत्र कर उसी पर काम किया जाना चाहिए, इस बात को डॉ. हंस ने समझकर और इस दृष्टि से उसके क्षेत्र और साहित्य के प्रायः सभी पक्षों पर विचार करने की दिशा में प्रवर्तन का काम किया। उनके इस कार्य को खंडवा के साहित्यकार रामनारायण उपाध्यायजी ने अपनी दृष्टि से आगे बढ़ाया। उपाध्यायजी हिन्दी के एक यशस्वी गद्यकार रहे। उनकी मातृबोली निमाड़ी रही। वे अपने परिवार और अपने निमाड़ी भाषियों के बीच निमाड़ी में ही बोलते बतियाते रहे, लेकिन उन्होंने अपना सारा लेखन खड़ी बोली में ही किया। मैं आज यह सब लिखते हुए खुद से यह सवाल करता आ रहा हूँ कि यदि रामनारायण उपाध्याय अपना सारा साहित्य निमाड़ी में रचते तो कैसा रहता? इस सवाल के उत्तर में यही कहना चाहूँगा कि उनके इस प्रकार के दुस्साहस से निमाड़ी बोली काफी समृद्ध होती और उनका अनुकरण कर अब तक लम्बी कतार निमाड़ी में लिखने पढ़ने और विचार करने वालों की खड़ी हो जाती, जो निमाड़ी को भाषा की सीढ़ियों पर चढ़ाने का काम करती। लेकिन रामनारायण उपाध्याय ने निमाड़ी बोली को लेकर जो काम किया, वह भी निमाड़ी में रचना करने की तरह ही महत्त्वपूर्ण है, और इस तरह के महत्त्वपूर्ण काम को उनके समकालीन लेखक डॉ. कृष्णलाल हंस अपने लेखन के प्रारम्भ से ही करने लगे थे। यदि वे इस दिशा में ही लगे रहते तो निमाड़ी पर काफी काम, अब तक भाषा विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से हो जाता और उसके साहित्यिक संवर्द्धन के झरने भी निमाड़ के अंचल से फूटने लगते। हालाँकि निमाड़ अंचल के कुछेक हिन्दी रचनाकार अपने लेखन में निमाड़ी के शब्द, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि के प्रयोग करके उसको हिन्दी में प्रतिष्ठित करने का काम कर रहे हैं, जिससे भाषा का शब्दकोश और बोली का महत्त्व बढ़ रहा है।

डॉ. कृष्णलाल हंस पर यह लिखते हुए मुझे उनका एक संस्मरण याद आ रहा है। बात 1975 की होगी। हम लोग 1973 में सिवनी मालवा में भवानी भाई के सम्मान समारोह से निपटे ही

होंगे कि हरसूद में जो अब इंदिरा सागर में डूब चुका है, डॉ. शिवशंकर शर्मा ने रामनारायण उपाध्याय पर एक बड़ा आयोजन कर डाला। जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र, सुमनजी आदि कोई बीस-पच्चीस लेखक शामिल हुए थे, और उनपर एक ग्रंथ का भी लोकार्पण हुआ। इसके बाद बैतूल में डॉ. हीरालाल बाघेतिया के संयोजन में डॉ. कृष्णलाल हंस का सम्मान सुमनजी की अध्यक्षता में हुआ, तब उन पर केन्द्रित एक स्मारिका का भी लोकार्पण हुआ और सुमनजी की अध्यक्षता में एक कवि-सम्मेलन भी हुआ। जिसका संचालन मैंने किया। रात के तीन बजे, जब समारोह समाप्त हुआ तो हंसजी ने मुझे इशारे से अपने पास बुलाया और एकांत में काफी दूर ले जाकर बोले- तुम्हारा परफार्मेंस अच्छा

था। कविता-पाठ भी अच्छा था। यह कहते हुए सौ रुपये का नोट मेरे हाथ में थमाते हुए गदगद होकर मुझे अपने गले लगा लिया। मैं अवाक रह गया। उन्हें नोट लौटना चाहा, लेकिन वे वहाँ से लगभग भागते हुए वापस लौट आये। मैंने यह सब सुमनजी को सुनाया तो बोले- ये हंस हैं, नीर-क्षीर विवेक दृष्टि रखते हैं और मोती चुगना जानते हैं। यह सुनते ही जोर के ठहाके के साथ हम लोग विसर्जित हुए। आज जब उन पर यह आलेखन कर रहा हूँ तो वही ठहाका लगता वातावरण जीवन्त होकर कह रहा है कि डॉ. हंस ने चाहे जो किया हो, लेकिन बुन्देली और निमाड़ी पर किये उनके कार्य को बोली पर किये गये गणेश वंदना की तरह स्वीकारते ही रहना भाई।

## छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के अध्येता

उर्मिला शुक्ल

लोक को अपने भीतर समाहित करती प्रकृति के साहचर्य में विकसित संस्कृति लोक संस्कृति कहलाती है। लोक संस्कृति के तीन आधार हैं- लोक भाषा, लोक कला और लोक साहित्य। लोक हमारी सामाजिक सांस्कृतिक चेतना की गंगोत्री है। इसी ने समय के साथ सभ्यता और संस्कृति के विविध सोपान गढ़े हैं। अतः लोक कला चेतना, लोक संस्कृति और लोक साहित्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मगर ज्यों-ज्यों हम सभ्यता की ओर अग्रसर हुए हैं, इसकी लगातार उपेक्षा हुई है। पढ़े-लिखे तथा कथित सुसंस्कारित समाज ने साहित्य और लोक को बाँट दिया। परिणामस्वरूप सभ्य समाज का साहित्य, शिष्ट साहित्य और अनपढ़ गँवारों और भदेस लोगों का साहित्य लोक साहित्य मान लिया गया। यह विभाजन अंग्रेजों के फोक लिटरेचर की देन है, जहाँ लोक बौद्धिकता और सभ्यता की सीमा रेखा के उस पार है। पश्चिम के कई विद्वानों की परिभाषा में लोक का अर्थ पुरातन है। यद्यपि भारतीय अवधारणा इस परिभाषा से मेल नहीं खाती और अधिकांश विद्वान इसे फोक से अलगाकर देखते हैं, मगर फिर भी जितना और जैसा अध्ययन शिष्ट साहित्य या लिखित साहित्य का हुआ है, उतना लोक साहित्य का नहीं। कारण बहुत से हैं, उनमें से एक यह भी है कि लोक साहित्य नगरों से दूर ग्रामीण अंचलों में सिमटा हुआ है। उसे ढूँढने में, उसके अध्ययन में बहुत अधिक ऊर्जा और उससे अधिक लगन की जरूरत होती है और हमारे सुविधाभोगी समाज में इन दोनों का अभाव रहा है। फिर भी शिष्ट साहित्य से जुड़े अनेक ऐसे लोग हैं, जिन्होंने सारी सुविधाओं को छोड़कर लोक का अध्येता होना स्वीकार किया और वह लोक साहित्य जो अब तक अनजाना था, उसका लेखन संकलन और परिवर्द्धन किया। जो अंचल नगरीय सभ्यता के पहुँच में थे, उनसे जुड़े लोक साहित्य की खोज जल्दी हुई और उनके अध्येताओं की संख्या भी निरन्तर बढ़ती गई, जैसे- अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि। मगर जो अंचल दूरस्थ थे, दुर्गम थे, जहाँ

तक पहुँच पाना जान जोखिम में डालना था, उस अंचल के लोक साहित्य का अध्ययन और उसके अध्येताओं को उँगलियों पर गिना जा सकता है। छत्तीसगढ़ ऐसा ही अंचल है। छत्तीसगढ़ की सीमायें महाराष्ट्र, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, झारखंड और मध्यप्रदेश से जुड़ती हैं। इसलिए यहाँ एक नहीं अनेक संस्कृतियाँ हैं। इसके अलावा छत्तीसगढ़ सघन वनों पर्वतों और पठारों का क्षेत्र है। यहाँ दुर्गम वनों के बहुत भीतर बहुत सी जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनकी अपनी अलग पहचान है, अपना अलग लोक और लोक साहित्य है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य विविधताओं से भरा है। यहाँ-लोक कथायें, लोक गाथायें और लोकगीतों आदि का विपुल भंडार है। कारण छत्तीसगढ़ का अधिकांश भाग आज भी नागर सभ्यता से दूर, वनवासी संस्कृति में रचा बसा है। वनवासी क्षेत्र दुर्गम हैं। वहाँ तक पहुँच पाना आसान नहीं है। फिर वहाँ की बोली, रीतिरिवाज, रहन-सहन सब बिल्कुल अलग है। शायद एक कारण यह भी है कि छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का जैसा अध्ययन और विश्लेषण होना चाहिए, वैसा नहीं हो पाया है। दूसरा कारण भारतीय बुद्धिजीवियों का उपेक्षित दृष्टिकोण है, जिसके भीतर बहुत से कारण छिपे हुए थे, जैसे लोक के महत्त्व को ठीक-ठीक न समझना एक सुविचारित वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति का अभाव, वर्ण पोषित हिन्दूवादी नजरिया। हमारे दार्शनिक चिन्तन और लोक व्यवहार में फाँक थी, इसलिए समाज के उच्चवर्ग ने लोक को हेय दृष्टि से देखा और इसकी उपेक्षा की। भारत में अंग्रेजों को अपना साम्राज्य मजबूत करने के लिए जिस वैज्ञानिक पद्धति और व्यावहारिक प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता थी, उसको विकसित करने के लिए जो प्रयास किये गये, उससे एक ऐसी पद्धति स्वयंमेव विकसित होती चली गयी, जिससे साहित्य और कला के अध्ययन की भूमिका निर्मित हुई। सन् 1784 में विलियम जोन्स के निर्देशन में रायल सोसाइटी का गठन हुआ, जिसके माध्यम से भारतीय पुरातत्त्व, भाषा और लोकसाहित्य पर शोध किये गये। विलियम जोन्स का नजरिया तो औपनिवेशिक ही था, मगर सोसाइटी ने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये और रॉयल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा 1788 में एशियाटिक रिसोर्सेज पत्रिका प्रकाशित हुई, उसमें भारतीय और विदेशी विद्वानों के महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। इससे भारत में एक नयी शोध प्रविधि विकसित हुई। जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास ही नहीं लिखा था, बल्कि हिन्दी की बोलियों का भी

गहन अध्ययन किया था और वाचिक परंपरा के साहित्य का संकलन भी। इसलिए छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के अध्येताओं पर नजर डाली जाय तो पहला नाम जार्ज ग्रियर्सन का ही उभरता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के पश्चात् सन् 1861 में भारत में पुरातत्त्व के सर्वे का कार्य प्रारंभ हुआ। इसके प्रथम डायरेक्टर जनरल एलेक्जेंडर कनिंघम थे। इनके निर्देशन में विद्वान अधिकारियों ने देश के अनेक क्षेत्रों की यात्रायें की और पुरातात्विक जानकारी के साथ-साथ जनपदीय बोलियों और लोक साहित्य को एकत्रित किया। बेगलर, रिचर्ड टेम्पल, जे.एस.फ्लीट ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इस सर्वे में एस.एस.वाडिया और पुतली के साथ-साथ छत्तीसगढ़ी साहित्य के आधार माने जाने वाले राय बहादुर हीरालाल द्वारा संकलित कथा गीतों और किंवदंतियों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इंडियन ऐंटीक्वैरी और आर्कियालाजिक सर्वे ऑफ इंडिया की उपलब्ध जिल्दों का अध्ययन करने पर उसमें अट्टारहवीं से बीसवीं सदी तक के भारत के लोक साहित्य के विषय में प्रचुर सामग्री मिलती है। यह सर्वे तो पुरातात्विक था, मगर लोक साहित्य को एकत्रित करने का काम भी इस सर्वे में किया गया था। छत्तीसगढ़ में वेरियर एल्विन ने यह कार्य किया। उनकी फोक सांग्स ऑफ छत्तीसगढ़ 1946 में प्रकाशित हुई थी। उन्होंने 'दि स्टोरी ऑफ रसालू कुंवर' नाम की गाथा के विषय में लिखा है। यह वही गाथा है जो आज छत्तीसगढ़ में दसमत कैना (देवार गीत) के नाम से प्रचलित है। रायबहादुर हीरालाल काव्योपाध्याय द्वारा अन्य लोक गाथाओं की भी जानकारी दी गई। इन्होंने गाथाओं के अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किये। ढोलामारू की कथा को हीरालाल काव्योपाध्याय ने 'ढोला के कहिनी' नाम से अंग्रेजी में 1890 में प्रकाशित किया। इसी तरह बिलासपुर से जुड़ी 'बिलासा केवटिम' की कथा का संकलन भी उन्होंने किया था। मगर कनिंघम के सहयोगियों ने उत्तर भारत या दक्षिण भारत के सर्वे के दौरान जिस तरह वहाँ के लोक साहित्य को संकलित किया, उस तरह छत्तीसगढ़ के सर्वे में नहीं किया गया। इसीलिये इस सर्वे से यहाँ के लोक साहित्य पर बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। इसमें केवल दुर्ग के राजा महान देव का जिक्र है और लोकगाथा में महान देव का संबंध ओडार बाँध और दसमत कैना से जुड़ता है और जगत पाल का नाम 'फूलकुँवर' की गाथा में आता है। इसी तरह छत्तीसगढ़ के डोंगरगढ़ को प्राचीन नगर कामतीपुरी के रूप



में दर्ज तो किया गया है, मगर इससे जुड़े लोक साहित्य का कोई जिक्र नहीं है। ओडार बाँध से जुड़ी लोक गाथा का जिक्र धनू लाल श्रीवास्तव ने अपनी रिपोर्ट में किया है। यह रिपोर्ट रियासतों का विवरण प्रस्तुत करती है। 'अष्ट राज्य आंभोज' नाम से यह रिपोर्ट 1925 में प्रकाशित हुई थी। इस दृष्टि से छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के संग्रहण में हीरालाल काव्योपाध्याय की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। लोरिक चंदा, ढोला मारू, बिलासा कंवटिन आदि की गाथायें उन्होंने सुनी थीं, उनका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत कर उन्हें संरक्षित किया। इन्हें लोरिक चंदा की एक अलग कथा भी मिली थी, जिसमें लोरिक यादव न होकर धोबी था। मगर एल्विन ने इसे स्तरहीन करार दिया। एल्विन ने इस दृष्टि से नहीं सोचा कि लोक गाथाओं में पाठान्तर होता है। अलग-अलग स्थानों पर वे कुछ भिन्नता लिए हुए हो सकती हैं। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के अन्य अध्येताओं में पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने छत्तीसगढ़ और छत्तीसगढ़ी के साथ-साथ छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के संग्रहण की दिशा में ठोस प्रयास किये। सन् 1959 में इन्होंने पहला प्रान्तीय सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें मुकुटधर पाण्डेय और डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र ने भाग लिया। लोचन प्रसाद पाण्डेय पुरातत्त्ववेत्ता थे। उन्होंने अपनी पुरातात्विक खोज के साथ-साथ छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के संकलन एवं संग्रहण का प्रयास भी किया। इस क्षेत्र में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र का योगदान भी उल्लेखनीय है। इन्होंने छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य को लेकर कोई विशेष खोज या संग्रहण का काम तो नहीं किया, मगर उनकी पुस्तक 'छत्तीसगढ़ परिचय' में अनेक स्थल ऐसे हैं जो छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के छुटपुट तथ्य जुटाते हैं। 'छत्तीसगढ़ परिचय' डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र की ऐसी कृति है, जिसमें मानव सभ्यता और संस्कृति के अनेक अनछुये पहलू उभरते हैं। इसमें तथ्य और कल्पना, फैक्ट और फिक्शन के माध्यम से छत्तीसगढ़ को देखने की कोशिश है। इस पुस्तक में छत्तीसगढ़ की संस्कृति और पुरातत्त्व को प्रस्तुत किया गया है। मगर इसमें छत्तीसगढ़ के लोक वैभव को भी परखने की कोशिश है। यह पुस्तक चौबीस अध्यायों में विभक्त है, जिसमें यहाँ की नदियाँ हैं और उनके

उद्गम स्थल भी हैं, पर्वत श्रृंखलायें हैं और उनकी विशेषतायें भी। यहाँ के रीति रिवाज और तीज त्योहारों के साथ-साथ छत्तीसगढ़ की लोक भूमि भी उपस्थित है। यह किताब छत्तीसगढ़ के नैसर्गिक सौन्दर्य के साथ-साथ इसके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक वैभव को प्रस्तुत करती है। इसमें छत्तीसगढ़ के प्रमुख स्थानों के भौगोलिक वर्णन के साथ ही इनकी ऐतिहासिकता को भी दर्शाया गया है। साथ ही इनसे जुड़े लोक विश्वास, लोक कथाओं और किंवदंतियों के माध्यम से इन्हें परिपुष्ट किया गया है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में छत्तीसगढ़ को लोक वैभव से परिपूर्ण बताया है। यह कृति आज दुर्लभ की श्रेणी में आ चुकी है। इसके भी संरक्षण की आवश्यकता है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य के अध्येताओं में श्यामा चरण दुबे का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। इनकी छत्तीसगढ़ी 'लोक गीतों का परिचय' छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य की अमूल्य निधि है। श्यामा चरण दुबे लोक साहित्य के गहन अध्येता रहे हैं। किसी भी क्षेत्र के लोक साहित्य का अध्ययन करने के लिए उस क्षेत्र की लोक संस्कृति का अध्ययन करना जरूरी होता है, क्योंकि लोक साहित्य में उस क्षेत्र के लोक जीवन सम्बंधी स्थितियों का प्रतिबिम्ब मिलता है। इस दृष्टिकोण से श्यामा चरण दुबे छत्तीसगढ़ी संस्कृति के मर्मज्ञ माने जा सकते हैं। उनकी कृति 'छत्तीसगढ़ी लोक गीतों का परिचय' छत्तीसगढ़ के लोक गीतों की विवरणिका मात्र नहीं है, उसमें छत्तीसगढ़ी लोक की विशेषतायें भी समाहित हैं, जिससे उन गीतों की प्रकृति को समझा और महसूस किया जा सकता है। यह कृति भी अब सुलभ नहीं है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का अध्ययन ब्रिटिश शासन काल से लेकर आज तक जारी है। आज जब अनेक लोक गीत जैसे धनकुल और लोक गाथाओं में दसमत कैना, फूलकुँवर विलुप्ति की कगार पर हैं, तब इनका अध्ययन और संरक्षण और महत्वपूर्ण हो उठता है। आज बाजारवाद की जद में हर चीज आती जा रही है। भाषा, साहित्य, संस्कृति तब ऐसे में वाचिक परम्परा में रचित लोक साहित्य कब तक अक्षुण्ण रह पायेगा। इसीलिए आज लोक साहित्य का अध्ययन-संरक्षण बहुत जरूरी है, ताकि इन्हें लुप्त होने से बचाया जा सके।

## बघेली संस्कृति के अध्येता : गोमती प्रसाद विकल

आशा द्विवेदी

हिन्दी साहित्य में बघेली भाषा, साहित्य की दृष्टि से भले ही कोई बड़ी उपलब्धि अब तक हासिल न कर पायी हो, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि 'देसी बयना सब जन मिट्ठा' यानी बोली की मिठास और उसकी स्वाभाविक व्यवहार चेष्टाओं में वे सारी खूबियाँ मौजूद रहती हैं, जिनसे किसी भी भाषा का साहित्य बनता है। बघेली में साहित्य सृजन की एक दीर्घ परम्परा रही है, बघेली का लोक साहित्य अत्यंत समृद्ध है।

आधुनिक समय में जिन लोगों ने बघेली लोक के सौन्दर्य को सामने लाने का काम किया, उनमें सबसे महत्वपूर्ण नाम है गोमती प्रसाद विकल का। बघेली के आधुनिक साहित्यकारों में गोमती प्रसाद विकल एक ऐसे समर्थ रचनाकार थे, जिनकी लोक संवेदना और ग्राम्य कल्पना ने राष्ट्रीय स्तर के साहित्य-मानक की समतुल्यता हासिल की है। आरम्भिक दिनों में उन्होंने खण्डकाव्य और उपन्यास लिखे और बाद में पूरी तरह से बघेली संस्कृति के विविध आयामों की खोज, विश्लेषण और व्याख्या के लिए समर्पित हो गए। बघेली गीत, संगीत, साहित्य, चित्रकला का न सिर्फ उन्होंने दस्तावेजीकरण किया, बल्कि उनकी मानक व्याख्या भी की। विकल जी के खण्डकाव्य राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत हैं। सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के समय विकल जी केवल दो वर्ष के थे, भारत छोड़ो आंदोलन का प्रभाव भारत में आजादी मिलने के दशकों बाद तक लोगों के मन-मस्तिष्क में रहा। ग्राम्य परिवेश में पले-बढ़े इस बाल कवि के सुकुमार मानस में स्वाधीनता की चेतना उम्र बढ़ने के साथ-साथ आकार लेती गई और 'रणमत सिंह' काव्य के रूप में उसने प्रथम अँगड़ाई ली।

भारतीय स्वाधीनता के अमर सपूतों में ठाकुर रणमत सिंह का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अंग्रेजी ताकतों द्वारा पूरी तरह निःशस्त्र कर दिए जाने के बावजूद यह रणबांकुरा भारत माता की आजादी के लिए मरते दम तक जूझता रहा, इसने हार नहीं मानी, दुश्मनों से बेखौफ और पाषाणधर्मी इस युवक ने अपने जीवन में सिर्फ दो से ही हार मानी—एक स्वयं अपनी माँ से और दूसरी भारत माता से। देश-प्रेम और समर्पण का भाव रणमत सिंह में इतना था कि मौत इनके लिए मातम नहीं एक उत्सव थी, राष्ट्र ही धर्म, राष्ट्र ही जाति, राष्ट्र ही मर्यादा और राष्ट्र ही जीवन-आदर्श था। ऐसे स्वनामधन्य यशोपूत स्वाधीनता प्रेमी के जीवन को आधार बनाकर काव्य-रचना इस बात को प्रमाणित करती है कि विकल जी राष्ट्रीयता के प्रश्न पर कितने व्याकुल थे।

सन् 1947 का वर्ष आजादी मिलने के कारण तो महत्त्वपूर्ण है ही, इस वर्ष की महत्ता इस बात में भी है कि उस समय साहित्य में प्रगति की समीक्षा और प्रयोगों की अधिकता थी। साहित्य अपने मानक रूप में तब स्थिर नहीं रह गया था। राष्ट्रीय प्रादर्श और देश प्रेम की तरोताजा घटनाओं ने सर्वथा नये रूपों-विमर्शों का रूपों धारण करना शुरू कर दिया था।

विकल जी का सम्बन्ध चूँकि एक छोटे से देहाती क्षेत्र से था, इसलिए उनके मन में गाँधी के हिन्द स्वराज और ग्रामोद्योग चेतना की चमक हमेशा बनी रही। इतिहास इस बात गवाह है कि गाँधी जैसे महानायक के ध्वज तले हजारों की संख्या में स्वतंत्रता प्रेमियों ने अपने बलिदान दिए थे। रणमत सिंह हों या रणजीत राय, इनके मन में कहीं न कहीं गाँधी हिन्दी स्वराज, राष्ट्रप्रेम में तब्दील हो चुका था।

‘रणमत सिंह’ और ‘रणजीत राय’ काव्यों के अलावा इनका ‘पितृऋण’ नामक उपन्यास भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उसका सृजन काल की आवश्यकता के अनुरूप हुआ था। रामधारी सिंह दिनकर की ‘परशुराम की प्रतीक्षा’ चीनी आक्रमण के जवाबी विमर्श के तौर पर लिखी गई थी, इस दौर में परशुराम एक ऐसा काव्य मिथक था, जिसे आजादी के पूर्व और पश्चात् की स्थितियों को अभिव्यक्त करने की क्षमता हासिल थी। एक विराट राष्ट्रीय फलक पर परशुराम का बिम्ब स्वीकृत हो चुका था। भारत माता के ऋण से मुक्त होना तो सम्भव नहीं था, लेकिन

राष्ट्रीयता के ऋण को हम अपनी क्षमता के अनुसार चुका सकते थे। यही कारण है कि परशुराम को प्रतीक्षा का सेतु बनाया गया।

विकल जी ने ‘पितृऋण’ उपन्यास में पौराणिक संदर्भों को राष्ट्रीय स्वाधीनता का आयाम देते हुए युगानुकूल चरित्रांकन किया। उपन्यास को पढ़ते हुए हमें चकित होना पड़ता है। परशुराम के पौराणिक रूपों को राष्ट्रीय प्रतिमानों में परिवर्तित करने की अद्भुत कला परिलक्षित होती है। कथात्मकता विकल जी की साहित्य का मेरुदण्ड है, उनके पास कथा कहने के रोचक तरीके हैं, परशुराम का समस्त जीवन पिता की संवेदनाओं के संरक्षण का अनूठा इतिहास है। हम भी परशुराम की तरह भारत का निर्माण कर सकने में सक्षम हैं, सिर्फ साहस, संकल्प, स्वाभिमान और सच्चाई की आवश्यकता है।

‘बघेली संस्कृति और साहित्य’ विकल जी की समीक्षात्मक और सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। हिन्दी के बहुविध भाषा वैज्ञानिकों ने बघेली भाषा के साथ न्याय न करते हुए उसके साहित्य पक्ष को नजरअंदाज किया है। गोमती प्रसाद विकल ने बघेली संस्कृति और साहित्य को संवेदना और लोकचेतना के धरातल पर समझने व समझाने की चेष्टा की है। विकल जी मूलतः कवि हैं, कवि के संस्कारों में संवेदना और ऐतिहासिकता का मणिकांचन संयोग होता है। इनकी इस समीक्षाकृति को पढ़ते हुए अध्येता यह जानने को बरबस उत्सुक होते हैं कि इतनी समृद्ध विरासत को अब तक यथोचित स्थान क्यों नहीं प्राप्त हो सका।

बघेली संस्कृति के बारे में विचार करते समय हमें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन की आवश्यकता है। बघेली संस्कृति इस अर्थ में भारतीय संस्कृति का मौलिक और प्राचीनतम रूप है, जिस अर्थ में गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महाकाव्य में लोकाचारों, लोकधर्म एवं लोक-प्रवृत्तियों के आधार पर चित्रित किया है। इधर कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने बघेली भाषा और संस्कृति को अवधी से पृथक करने की कोशिश की है। हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण मध्यकाल और अंशतः आधुनिककाल अवधी भाषा, संस्कृति, साहित्य एवं लोक चेतना की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण रहा है, इसमें बघेली स्वयमेव अन्तर्भुक्त है।

आजादी के तुरंत बाद दो परस्पर विरोधी स्थितियाँ भारतीय परिदृश्य पर प्रकट हुईं, पहली मोहभंग की स्थिति और दूसरी

ग्राम्य संस्कृति के प्रति लगाव। पहली स्थिति पर साहित्य ने कलम का भरपूर इस्तेमाल किया, लेकिन दूसरी स्थिति को आंचलिकता का नाम देकर सीमित करने का प्रयास किया गया। स्वतंत्रता के बाद हमने विकास की प्रक्रिया ऊपर से नीचे तक तय करने की योजना तो बनाई, लेकिन गाँव शोषित रह गये।

विकल जी की एक छोटी सी कविता है 'सुआ'। यह कविता उपरोक्त स्थितियों का भरपूर संकेत देती है, पिंजरे में कैद सुआ जंगल की कल्पनाओं में सिर्फ खो ही नहीं जाता, बल्कि यह जानने की भी कोशिश करता है कि आखिर इस पिंजरे में कैद होने का कारण क्या है। सुआ जब अन्य पक्षियों को खुले आकाश में उड़ान भरते और स्वच्छंद विचरण करते देखता है तो उसे भी अपने निवास स्थान, परिजन, पुरजन, सम्बन्धी सभी याद आते हैं। जन्मभूमि की महत्ता, हमारी संवेदनाओं से जुड़ा प्रश्न है, इस प्रश्न को हमने लगातार धुँधला ही किया है, यह सपना क्रमशः धूमिल होता गया और आजाद होने के बावजूद पराधीनता की कई बेड़ियों में जकड़ते गए। गाँवों की गोधूलि शहरों में विस्मृत हो गई, विकास के प्रतिमान नगर-सापेक्ष होने के साथ-साथ धुरीहीनता से ग्रस्त एवं आत्ममुग्धता की कसौटी बनते गए। सुआ नामक छोटी सी रचना में इस व्यापक फलक को संवेदना के धरातल पर उठाया गया है। कवि में स्वाधीनता के लिए सच्ची छटपटाहट दृष्टिगोचर होती है।

विकल जी ने 'अनुबन्ध', 'सीता का एकान्त', 'धर्मपुत्र' आदि काव्यग्रंथों की रचना की। इन काव्यग्रंथों का समुचित आकलन और मूल्यांकन होना आवश्यक है। 'पितृऋण' के अलावा महाभारत की पृष्ठभूमि पर आधारित 'कुरुक्षेत्र का नेपथ्य' बहुत मूल्यवान् उपन्यास है। इसमें विकल जी ने चौंकाने वाली स्थापनाएँ दी हैं। 'सेलार का पानी' उपन्यास आजादी की लड़ाई पर आधारित है। बघेली लोकचित्रों पर 'कोहबर' नामक पुस्तक लोकचित्रों के प्रतीकार्थ खोलती है। साथ ही विकल जी चौमासा सहित देश की सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में लगातार शोध परक आलेख लिखते रहे हैं।

बघेली पृष्ठभूमि में विकल जी निहायत अकेले व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने स्वतंत्र भारत की प्राथमिक परिस्थितियों से लेकर अधुनातन बनते-बिगड़ते समाज को संवेदना के साथ समझने

और अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। लोक संस्कृति, लोकधर्म, लोक आचरण एवं लोक प्रवृत्तियों को आधार बनाकर लिखा गया रामचरित मानस अगर हिन्दू मानस का बाइबिल हो सकता है तो बघेली की ये रचनाएँ, जिनमें प्रत्यक्ष जीवन की धड़कने सुनी जा सकती है, साहित्यिक दृष्टि से कमतर नहीं हैं।

विकल जी को कुछ राष्ट्रीय पुरस्कारों से भी अलंकृत किया गया। जैमिनी अकादमी पानीपत (हरियाणा) द्वारा 1998 में मानद उपाधि दी गई। 'पितृऋण' उपन्यास के लिए अभियान संस्था जबलपुर ने उन्हें हिन्दी भूषण अलंकरण दिया। 2004 में लोकभाषा सम्मान भी मिला। आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी, भोपाल की सामान्य सभा में मनोनीत सदस्य रहे।

गोमती प्रसाद विकल चिरंतन सृजन सत्य की छाया से बाहर नहीं है। पीड़ा की विराट सत्ता उनमें हृदयस्थ सी प्रतीत होती है। विकल जी के समस्त रचना संसार में पीड़ा का व्यापार पसरा है। कवि को सर्वत्र पीड़ा की पगध्वनि सुनाई पड़ती है, ऊषा का अभिसार तिरोहित हो जाता है, मध्याह्न का सूर्य ढल जाता है, संध्या का धूमिल गात भयानक रात में बदल जाता है, ऋतुराज को सदा पतझड़ के विद्रोह का भय पीड़ा के सम्मुख समर्पण की घोषणा करते हुए प्रतीत होते हैं- है इसीलिए समर्पित मन से पुलकित पीड़ा से अनुबंध।

कवि की इस अनुबंध प्रक्रिया में एक वैज्ञानिक तथ्य उभरकर सामने आता है, मनुष्य के ऊपर निरंतर चौदह टन का वायुमंडलीय दबाव पड़ता रहता है। किन्तु मनुष्य को लेश मात्र भी ऐसे दबाव का एहसास नहीं होता, इसका कारण है कि मनुष्य के भीतर रक्त में भी उतने ही दबाव की वायु मिश्रित है, जितने दबाव की बाहर उपस्थित है। बाहर-भीतर की वायु का दबाव समान होने से मनुष्य चौदह टन के भारी वायुमंडलीय दबाव को अनजाने ही झेल लेता है।

गोमती प्रसाद विकल का जन्म मध्यप्रदेश के रीवा जिले के बुड़वा गाँव में 18 मार्च 1941 को हुआ था, पिता इन्द्रभान राम की शिक्षा उच्चकोटि की नहीं थी, किन्तु वे संस्कार के धनी थे, पर पिता की यह बात वो जीवन भर मानते रहे कि नियति का अपना न्याय होता है। अल्पायु में ही पिता स्वर्गवासी हो गये।

अभाव, असुरक्षा और असमर्थता से जूझना पड़ा, गहन पीड़ा एवं निराशा से जीवन आवृत्त हो गया।

पितृविहीन बालक के लिए माता की ममता ही एकमात्र रक्षा ढाल थी। माता यशोदा देवी उदार, सहिष्णु, साहसी एवं धर्मनिष्ठ महिला थीं। बड़ी सूझबूझ और दूरदर्शिता के साथ वैधव्य का बोझा ढोते हुए तीन पुत्रों और एक पुत्री का लालन-पालन किया, पिता के अभाव में माता ने अगाध वात्सल्य दिया।

*सुत के लिए पिता का पौरुष संकट हरण अधिकतम है।  
माता तेरी भी ममता कहो किस तरह कम है।।*

कठिनाइयों का शैवाल चीरकर गोमती प्रसाद विकल ने अपनी शिक्षा यात्रा आरम्भ की। 1958 में हाईस्कूल करके शिक्षा विभाग में नौकरी कर ली। 1965 में सागर विवि. से अंग्रेजी में और 1977 में समाज शास्त्र में एम.ए. किया। आर्थिक सामाजिक कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए विकल जी निरंतर लेखन कर्म में रत रहे, वस्तुतः विकल जी लेखन को जीवन धर्म स्वीकारते हैं।

गोमती प्रसाद विकल की रचनाधर्मिता में स्वस्थ और शाश्वत जीवन मूल्यों का समावेश है। कवि की पीड़ा सम्बन्धी दृष्टि वैज्ञानिक और जीवनोपयोगी है। व्यक्ति समष्टि की समस्त यातनाओं और कठिनाइयों का सामना संघर्ष करके ही नहीं कर सकता, कवि के अनुसार समर्पण और समझौता जीवन संग्राम में विजय पाने के कारगर हथियार हैं, यदि व्यक्ति अपने भीतर पीड़ा रूप को स्थापित कर ले, तो बाह्य पीड़ा उसे दुःख नहीं दे पाती। विकल जी ने प्रकृति के नाना रूपों को नूतन उद्बोधनों के साथ चित्रित किया है। ऋतु परिवर्तन के विविध रूप और अभिसार

तथा प्राणीजगत के प्रकृति के साथ यथोचित तादात्म्य का संक्षिप्त चित्रण विकल जी की रचनाओं में देखा जा सकता है। समाज के अभावग्रस्त एवं पददलित लोगों की पीड़ा को भी विकल जी ने सजीव शब्दों में चित्रित किया है। गोमती प्रसाद विकल लम्बे अरसे तक सृजनशील रहे, उनका कवि छोटी कविताओं में नहीं खुलता, लिहाजा वे अपने लिए ऐतिहासिक, पौराणिक गाथा और परिवेश को चुनते हैं। अपनी वर्णनात्मक क्षमता के जरिए वे युग की चुनौतियों, संघर्षशीलता और कशमकश को मूर्त करते हैं, यह उनकी अपनी शैली है, उनका निजी मुहावरा है। रणमत सिंह, रणजीत राय, परशुराम, हिडिम्बा जैसे पात्रों के माध्यम से उन्होंने पूरे युग को प्रत्यक्ष और जीवन्त किया है। उनकी कविता में कोई ऊहापोह नहीं, कोई बड़बोलापन नहीं, कोई चमक-दमक नहीं, कोई नाटकीयता नहीं है। सब सरल, सहज और संवेदना से लबालब है, सहजता ही उनकी कविता का श्रृंगार है, उनमें और उनकी कविता में जबर्दस्त एका है।

3 दिसम्बर 2006 को अचानक विकल जी का निधन हो गया। बघेली संस्कृति पर बहुत सारा काम वो अधूरा छोड़कर चले गए, लोकचित्रों पर उनकी किताब 'कोहबर' उनकी मृत्यु के बाद छप पाई। इसे आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, भोपाल ने ही प्रकाशित किया। विकल जी के जाने बाद बघेली में शोध और दस्तावेजीकरण का काम लगभग ठहर सा गया है। इस भाषा में ऐसा कोई व्यक्ति अब नहीं दिखाई पड़ रहा है, जो गोमती प्रसाद विकल के काम को आगे ले जाये, यह किसी भी भाषा के लिए बड़ा दुर्भाग्य है।

## श्याम परमार : लोक की सौंधी सुगन्ध

डॉ. हंसा कमलेश

लोक संस्कृति शब्द रचना स्वयंमेव प्रकट करती है कि वह लोक से जुड़ी है। संक्षेप में लोक-संस्कृति की आत्मा है सामान्य जनजीवन। वह जीवन जिस पर आधुनिक नगरीय जीवन का प्रभाव नहीं पड़ा है। ऐसे लोग जो शहरों से दूर गाँवों, जंगलों, पर्वतीय प्रदेशों में निवास करते हैं, उनकी संस्कृति, उनके रीति-रिवाज, उनकी मान्यताएँ और जीवन जीने का ढंग आदि सब मिलकर अन्यो से भिन्न एक संस्कृति को जन्म देते हैं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता, पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है, वह तो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।' श्याम परमार ऐसी ही एक लोक परम्परा का प्रवाह है, जिनमें मध्यप्रदेश की लोक संस्कृति रची-बसी है। उनमें लोक संस्कृति की सौंधी गंध महकती है। जैसे लोक शब्द बहुआयामी है, वैसे ही श्याम परमार का व्यक्तित्व बहुआयामी है।

वे एक सुप्रसिद्ध लोकवार्ता विज्ञ हैं, तो कवि और समालोचक भी। उन्होंने पी-एच.डी. मालवा के लोक साहित्य पर की। लोक साहित्य सम्बन्धी विविध विषयों पर एक दर्जन से अधिक पुस्तकों के रचयिता और सृजनकर्ता हैं। आपने आकाशवाणी में अनेक वर्ष तक लोक संगीत विभाग के अध्यक्षीय पद को सुशोभित किया। एक लम्बे समय तक इण्डियन इस्टीट्यूट ऑफ मॉस कम्यूनिकेशन- नई दिल्ली में ट्रेडिशनल मीडिया विभाग के प्रमुख भी रहे हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडमी की प्रकाशन योजना के अंतर्गत डॉ. श्याम परमार द्वारा लिखित- 'मालवी लोक साहित्य' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की गई थी। लोक साहित्य जनजीवन के मनोभावों तथा संस्कृति की सहज-सरल अभिव्यक्ति है। किसी भी देश का

सांस्कृतिक इतिहास वहाँ के लोक साहित्य के माध्यम से लिखा जा सकता है। मध्यप्रदेश की परम्परागत सांस्कृतिक चेतना, जीवन प्रवाह और जातीय विशेषताओं के अध्ययन के लिए मालव जनपद के लोक साहित्य से परिचित होना आवश्यक है। डॉ. श्याम परमार ने मालवी लोक साहित्य पुस्तक में मालव प्रदेश के लोक साहित्य को मनोयोग तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। लोक की व्याख्या करते हुए जो निष्कर्ष उन्होंने निकाला है, वह नया होने के साथ-साथ लेखक की अध्ययन दृष्टि को रेखांकित करता है। इसी पुस्तक के परिशिष्ट में लेखक ने मालवी लोकगीतों और कथाओं के संग्रह के साथ-साथ गीतों की जो स्वर तालिका दी है, वह निश्चय ही लोक साहित्य की समृद्ध धरोहर है।

लेखक की दृष्टि में लोक जन साधारण है, जिसमें भू-भाग पर उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के मानव वंश सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं के श्रेष्ठ तत्त्वों से पूरित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार- 'लोक हमारे जीवन का समुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक, राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक का व्यक्त रूप हमारे जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। लेखक का लोक साहित्य इसी लोक अध्यात्म शास्त्र से अभिभूत है।

लोक साहित्य में अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छुपे हैं। श्याम परमार का साहित्य ऐसा ही रत्नों का भण्डार है, जिसमें अनेक विषय अपनी सम्पूर्ण गहराई के साथ आत्मसात हैं। सृजनकर्ता के साहित्य में भारत के लिये मंगल संदेश निहित है। 'प्रत्यक्ष दर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्तर' मंत्र में अध्येताओं के लिये नया दृष्टिकोण छुपा हुआ है। अथर्ववेद का यह सूत्र लोक साहित्यकार के सन्दर्भ में उचित ही जान पड़ता है कि 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अर्थात् यह भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। वे सचमुच लोक की माटी के ही पुत्र हैं। लोक साहित्यकार भारतीय लोक का प्राण है। वह युगों से उक्त सूक्त का धारणकर्ता रहा है। वह लोक साहित्य की आधार शिला है।

'मालवी लोक साहित्य' क्षेत्रीय साहित्य की वृत्तियों का अंतर प्रभावी अध्ययन है। इसकी आधारभूत सामग्री लेखक द्वारा एक लम्बे समय तक मालवा के विविध ग्रामों से संकलित की

गई थी। समय के एक लम्बे अंतराल ने सामग्री की महत्ता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। मौखिक परम्परा की वस्तु होने के नाते लोक साहित्य का अधिकांश अन्तः सम्प्रेषण के लिये प्रायः निश्चित अभिप्रायों की सृष्टि करता आया है। मगर तब भी उसमें मध्यकालीन आस्थाओं से अलग कुछ ऐसे तत्त्व उभरते रहते हैं, जिनमें मूल वृत्तियों का सर्जनात्मक रूपान्तर होता है। आज की जिन्दगी में लोक साहित्य का जो अंश जुड़ता है, वह वस्तुतः मौखिक साहित्य का सर्वाधिक पुराना और आदिम अधिक है। एक तरह से आर्च बनाता हुआ आदिम आज के प्रखर वर्तमान को सीधे स्पर्श करता है।

सृजनशील साहित्यकार, लोकवार्ता के शोधकर्ता एवं कवि समीक्षक डॉ. श्याम परमार का सृजन कभी एक सीमा में नहीं बंधा। वैसे भी साहित्यकार की लेखनी सीमा का बंधन स्वीकार नहीं करती। शब्द आजाद पक्षी की तरह आसमान में विचरण करते हुए रचना को रूप-रंग के सांचे में ढालते हैं। ऐसा ही श्याम परमार के साहित्य सृजन में दिखाई देता है। कभी उनकी लेखनी 'मालव अंचल' के शब्दों को आकार देती है, तो कभी 'मध्यप्रदेश की लोक संस्कृति और साहित्य' की रचना करती हैं। उनके शब्द 'लोकधर्मी नाट्य परम्परा' का सृजन करते हुए दिखते हैं। उनकी कल्पना 'विजय' कविता संग्रह के रूप में पाठक के हाथों में होती है। उनके कथानक 'पत्र के टुकड़े' कहानी संग्रह का रूप ले लेते हैं। उसका विचार 'मोरझाल' उपन्यास को जन्म दे देता है। उनकी समीक्षक दृष्टि 'अकविता और कला सन्दर्भ' जैसे समीक्षा ग्रंथ की रचना करती है। उनका सहयोग 'हिन्दी-साहित्य कोश' तथा 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' को एक आकार देता है। हिन्दी में ही नहीं अंग्रेजी में भी उनका सृजन 'ए बिब्ल्योग्राफी ऑफ इण्डिया फोकलोअर एण्ड रिलेटेड सब्जेक्ट,' जस्मीन ऑफ दी ब्लेक सॉइल' तथा 'फोकलोअर ऑफ मध्यप्रदेश' को जन्म देता है।

विविध व्यक्तित्व के स्वामी हिन्दी साहित्य के अध्येता मालव माटी के पुत्र हैं, जिनके नाम में ही लोक संस्कृति की सौंधी गंध समायी हुई। यह निर्विवाद है कि लोकभाषा का साहित्य प्रत्येक युग में रहा है। राजशेखर की काव्य मीमांसा से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि राजदरबार में लोकभाषा के कवियों का आदर होता था। संतों ने भी लोक साहित्य की काव्य शैली को

अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। कबीर ने ऐसे काव्य रूपों के प्रयोग अपने ढंग से किये हैं। ढोलामारू और कबीर के कुछ दोहों में बड़ा साम्य है।

मानवी लोक साहित्य में रचनाकार जब धार्मिक परम्पराओं को विस्तार देता है तो संत साहित्य की धारा प्रवाहित हो जाती है। आत्मा और परमात्मा का अद्वैत रूप लोक साहित्य में संतों की वाणी से निःसृत हुआ है। नर्मदा उपत्यका में संतों का प्रभाव अधिक रहा है। वहाँ के जन-जन ने निकट से संतवाणी को ग्रहण किया है। यही कारण है कि जो स्प्रिट मृत्युगीतों में मिलती है, वह संत साहित्य के मूल विचारों से संयुक्त है। लेखक ने मालवी लोकनाट्य परम्परा माच का इतना सजीव चित्रण किया है कि दृश्य आँखों के आगे प्रतिबिम्बित होते नजर आते हैं। सृजनशील रचनाधर्मी की लेखनी की सजीवता का यह प्रमाण है। संवेदनशीलता और सम्प्रेषण हर शब्द में समाया हुआ है।

हमारी लोककला के संस्कार हमारी अत्यंत प्राचीन सभ्यता के विकास की परम्परा में है। आज लोक कला में अभिव्यक्त प्रतीकों में अनेक प्रतीक सभ्यता के आरम्भिक काल के हैं। वैसे आज बाजार के आग्रह पर प्रयोग हो रहे, परन्तु सृजन धर्मी परमार का लोक साहित्य इस दबाव से अछूता है। माटी से जुड़े इस व्यक्तित्व ने जिस अथक परिश्रम और लगन से लोक साहित्य

की विधाओं पर कार्य किया, वह सराहनीय है। जनजीवन के विश्वासों एवं विचारों से निर्मित समाज की संस्कृति-सांस्कृतिक स्वरूप का दर्पण है, जो लोकगीतों, लोकनाट्यों, लोककलाओं, लोक संगीत, चित्रकला, उनके रहन-सहन, उनकी वेशभूषा, उनकी भाषा आदि तत्वों में दिखाई देती है। इन तत्वों से मिलकर ही श्याम परमार के लोक साहित्य का निर्माण है।

किसी भी जनपद की लोकवार्ता का स्पष्ट चित्र हमेशा पुराने लोकगीतों के शब्दों, गाँवों की लोक कथाओं के लम्बे अवदानों से उभरकर सामने आता है। सदैव मातृभाषाएँ मौखिक साहित्य की निरन्तरता को बनाये रखने में उपादेय सिद्ध होती हैं। यही कारण है कि आज भी मालवा अपनी मालवी संस्कृति की अलग पहचान बनाये हुये है।

मालवा के सन्दर्भ में कहा जाता है-

*देश मालवा गहर गंभीर।*

*मग-मग रोटी, पग-पग नीर।।*

ऐसे समृद्ध मालव जनपद का लोक साहित्य सृजनधर्मी मालवी लोक साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनके शब्द देश मालवा की तरह गहर गंभीर है। उनकी रचनायें तृप्त करती हैं। उनका सृजन शीतलता प्रदान करता है।



## राधेश्याम शांडिल्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

वसंत निरगुणे

श्री राधेश्याम बिहारी शांडिल्य एक ऐसा नाम है, जो निमाड़ी और कोरकू संस्कृति का पर्याय बन गया है। राधेश्याम शांडिल्य उस लोक चेतना का भी नाम है, जिसे अपने आसपास के समाज में विशेष पहचान, प्रतिष्ठा और आत्मीयता मिली थी। ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं, जिन्हें अपने सहज व्यवहार से हर जगह, हर समय, हर परिस्थिति में लोकप्रियता प्राप्त हो जाती है या इसे यह कह लें कि ऐसा व्यक्ति अपने विशिष्ट व्यवहार से चाहे जहाँ अपनी जगह बना लेता हो। ऐसे व्यक्ति कहीं भी हो, थोड़ी देर में ही अपनी वाचालता से, हाव-भाव से अथवा परिचयात्मकता से, अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में सक्षम होते हैं, अपने आसपास का वातावरण जीवन्त बना देते हैं। ऐसे लोगों के प्रति सबका ध्यान आकर्षित हुए बगैर नहीं रह सकता। कुछ ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी राधेश्याम शांडिल्य भी थे। वे कहीं भी हों, घर हो, रास्ते में हों, रेल में हों, मोटर में हों, पैदल हों, बैलगाड़ी पर हों, चाहे जहाँ हों, अपने व्यक्तित्व की छाप अवश्य छोड़ते थे।

मध्यम कद-काठी के दुबले-पतले सुन्दर नाक-नकश वाले एकदम गौर वर्ण, सदैव हँसमुख रहने वाले श्री राधेश्याम शांडिल्य का जन्म मध्यप्रदेश के वर्तमान जिला हरदा के टेमलावाड़ी ग्राम में सन् 1932 में एक नार्मदीय परिवार में हुआ। हरदा में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के बाद बारजा, नीमगाँव एवं गोदागाँव में तीन वर्ष तक पटवारी रहे। बाद में पटवारी की नौकरी से इस्तीफा देकर अध्यापन के क्षेत्र में कदम रखा।

उन्होंने कोरकू जनों के सहयोग से ग्राम टिगरिया में एक स्कूल की स्थापना कर कोरकू बच्चों को कोरकू बोली में शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ किया। एक वर्ष बाद टिगरिया में स्थापित शासकीय प्राथमिक शाला के निरीक्षण के लिए जिला शिक्षा अधिकारी उस गाँव में आये। उन्होंने श्री राधेश्याम शांडिल्य के निजी प्रयासों से स्थापित कोरकू शाला का भी निरीक्षण किया। श्री शांडिल्य जी द्वारा कोरकू बोली में बच्चों को शिक्षा देने की अभिनव प्रणाली से प्रभावित होकर काफी प्रशंसा की। उनके प्रयासों से श्री राधेश्याम शांडिल्य की शासकीय प्राथमिक शाला जटपुरा में प्रथम नियुक्ति हुई। खण्डवा से शिक्षकीय ट्रेनिंग लेने के बाद हरदा की मानपुरा प्राथमिक शाला में उनकी नियुक्ति हुई। श्री शांडिल्य हरदा के ऐसे प्रथम शिक्षक हैं, जिनकी नियुक्ति व निवृत्ति हरदा में ही हुई। वे हरदा से अन्यत्र तबादला नहीं चाहते थे, यहीं कारण था कि उन्होंने प्राथमिक, मिडिल और हाई स्कूल के प्राचार्य तक की पदोन्नति को स्वीकार नहीं किया, बल्कि अपने से जूनियर मित्रों को उस पद तक पहुँचाया। उनके इस प्रकार के कार्य देखकर शिक्षा जगत् में भी उनका बड़ा मान-सम्मान था।

श्री शांडिल्य अपनी धुन के पक्के और लगन के सच्चे व्यक्ति थे, जो काम एक बार हाथ में ले लेते थे, उसे पूरा करके ही दम लेते थे। श्री शांडिल्य के मन की संरचना एकदम अलग थी। उनका मन बच्चों की तरह भावुक और निर्मल था। वे किसी का मन दुखाना नहीं जानते थे, बल्कि बहलाना जानते थे। उनमें संत्रास, कुण्ठा, ईर्ष्या आदि का नाम मात्र निशान नहीं था। वे रमते राम, बहते पानी थे। उनका हृदय जल की तरह तरल और स्वच्छ था। उनमें बड़े से बड़े और छोटे से छोटे का सम्मान करने का अद्भुत गुण था।

वे भोले भी इतने थे कि अभिमान उनको छू तक नहीं गया था, वे चतुर इतने थे कि सब कुछ जानते हुए भी वे अनजाने बने रहते थे और भोले प्रश्नों में उलझा कर अपनी बात मनवा लेते थे। उनकी जीत में भी एक हार छिपी रहती थी और हार में भी जीत का दर्द झलकता था। वे निरभिमान रहकर भी स्वाभिमान की परिभाषा बन सकते थे। वे विद्वता से घबराते थे, और बड़े से बड़े

को सरलता से धरातल पर ला खड़ा करते थे। कहने का तात्पर्य यह कि श्री शांडिल्य अंदर से संश्लिष्ट संरचना थे। बाहर से इतना सरल होते हुए भी उन्हें समझना मुश्किल काम था। वे परिस्थिति के अनुसार जगत के सामने इतने रूपों में खुलते थे कि देखकर दंग रह जाना पड़ता था। जब वे मंच पर होते थे तो निमाड़ी -कोरकू गीत, कविता गाकर सबको चकित कर देते थे। जब वे नृत्य में उतरते थे तो उनकी ऊर्जा और उत्साह देखते ही बनती थी। जब वे नाट्य में अपने आपको शामिल करते थे तो उनके सिवाय दूसरा कोई दिखाई ही नहीं देता था। वे अपने देहातीज अभिनय, गायन, वादन और कल्पनाशीलता से सबको मंत्र-मुग्ध कर देते थे। उनके प्रशंसकों में बच्चे, युवा, बूढ़े तो होते ही थे, महिलाओं का समूह उनकी नैसर्गिक प्रतिभा से सबसे अधिक प्रभावित और आकर्षित रहता था। श्री राधेश्याम शांडिल्य महिला बिरादरी के लिए स्वांग, गम्मत के लोकप्रिय पात्र थे। वे पल में हँसाने और रूलाने की कला जानते थे। वे अपने गीतों की गंगा में सबको बहाकर ले जाने की क्षमता रखते थे। ऐसा व्यक्तित्व दुर्लभ ही है।

वे सम्मान लेते कम बल्कि देते अधिक थे। उन्होंने समाज को सदैव दिया ही है, लिया कुछ भी नहीं। उन्हें जो कुछ मिल जाता, उसी में संतोष कर लेते थे। जो मिल गया वह खा लिया, जहाँ जगह मिली वहीं सो गये। श्री शांडिल्य का स्वभाव फक्कड़पन का था। वे सदैव मस्त और प्रसन्न रहने वाले जीव थे। यह स्वभाव उन्हें प्रकृति प्रदत्त था, इसलिए चाहकर भी वे किसी बंधन में कभी नहीं रहे। सदैव उन्मुक्त रहकर कार्य किया। अध्यापकी उन्हें कभी आड़े नहीं आई। खेल-खेल में गीत-संगीत के साथ पढ़ाना श्री शांडिल्य की एक खास अध्यायकीय शैली बन गयी थी। इससे विद्यार्थी शांडिल्य जी से हमेशा खुश रहते थे। वे लोकप्रिय शिक्षक तो थे ही, बच्चे तो बच्चे उनसे जानवर तक खुश रहते थे। एक संस्था के आग्रह पर उन्होंने तीन बंदरों को घर में रखकर प्रशिक्षित किया था। इसमें भी उनकी विशेषता यह थी कि बंदरों को उन्होंने हिन्दी और कोरकू बोली में प्रशिक्षण दिया था। बंदर हाथ जोड़ते थे। सेल्युट करते थे और गाँधीजी की तीनों शिक्षाओं का पालन करके दिखाते थे। और भी

उन्होंने कई करतब सिखा दिये थे, जिसमें चश्मा लगाकर रामायण पढ़ने का अभिनय करना खास था।

श्री शांडिल्य कोरकू बोली, कला, संस्कृति और परम्पराओं के जानकार थे, इसलिए कई लोग उन्हें श्री राधेश्याम कोरकू कहकर पुकारते थे। वे गोण्डी, भीली बोली के भी अध्येता थे। कोरकू बोली का तो उन्होंने व्याकरण ही तैयार कर दिया था। वे प्रदेश की कोरकू बोली के एकमात्र विशेषज्ञ थे। प्राथमिक स्कूल के अध्यापक होते हुए उन्हें सागर और खैरागढ़ विश्वविद्यालय में कोरकू बोली और संगीत के अध्यापन के लिए ससम्मान आमंत्रित किया जाता था। वे स्काउट के श्रेष्ठ गाइड और शिक्षक थे। वे पर्यावरण रक्षा के समर्पित सचेतक थे। उन्होंने निमाड़ी बोली की वाचिक परम्परा के निमाड़ी संस्कार गीतों, गणगौर गीतों, लोक गाथाओं (मथवाड़) लोक वाद्यों, आभूषणों के संकलन का अविस्मरणीय कार्य किया था।

श्री राधेश्याम शांडिल्य निमाड़ी के लोक कवि थे। वे निमाड़ी, कोरकू लोकगीतों के गायन और लोक धुनों के बिरले जानकार थे। वे निमाड़ की माटी और माँ नर्मदा के अबाधित लोक गायक थे। शांडिल्य एक व्यक्ति नहीं, बल्कि अपने आपमें एक संस्था थे। वे एक साथ कई काम करते थे। वे गायक थे, नर्तक थे, वादक थे, अभिनेता थे, लेखक थे, नृत्य संयोजक थे। कोरकू नृत्यों की पारम्परिक संरचनाओं को संयोजित कर प्रदेश और देश के सांस्कृतिक मंचों पर ले जाने का श्रेय राधेश्याम शांडिल्य को है।

श्री शांडिल्य दोस्तों के दोस्त एवं सच्चे इन्सान थे। उनमें समाज, साहित्य, संस्कृति और कला की सेवा करने की अद्भुत जिजीविषा थी। उनमें लोक चेतना की इतनी स्वाभाविक जागृति थी कि वो जहाँ कहीं जीवन कला, संस्कृति की बात होती थी, वहाँ वे स्वयं पहुँच जाते थे। उनकी मूल प्रकृति सहजता और सरलता की परिधि में खिलती थी। गणगौर, नर्मदा की वाणी तथा कोरकू जीवन और संस्कृति उनकी पुस्तकें लोक साहित्य जगत की सबसे मूल्यवान रचनात्मक पहल कही जा सकती हैं।

सदैव घुमक्कड़ श्री राधेश्याम शांडिल्य 20 दिसम्बर 1996

को हरदा में अपने स्वयं के मकान में भोजन करते-करते ही हृदयाघात से अप्रत्याशित इहलोक छोड़कर चले गये। कहते हैं ऐसी मौत किसी खुश-नसीब को ही मिलती है। सबको हँसाने वाले राधेश्याम शांडिल्य अंत में भाग्यशाली निकले, जिन्होंने कोई सेवा सुश्रूषा नहीं ली और अचानक सबको आश्चर्य में डालकर रूलाकर चले गये। उनके जाने के पश्चात् उनकी जगह को भरने वाली प्रतिभा अभी तक पैदा नहीं हुई है। आदिवासी लोककला अकादमी के कोरकू सर्वेक्षण एवं शोध कार्य में श्री राधेश्याम शांडिल्य के सक्रिय सहयोग को नहीं भुलाया जा सकता। मेरे साथ उन्होंने कोरकुओं के गाँवों में यात्राएँ की थी, तब वे कोरो माण्डी में धारा प्रवाह के साथ बातें करते थे। कोरकू गीत गाते थे। कथाएँ सुनाते थे। कहावतें और पहेलियाँ कहते थे। उन्होंने ही मुझे बताया था कि 'कोरो' यानी आदमी और कोरो में 'कू' लगने से उसका अर्थ 'आदमियों की जमात' हो गया। जो जाति वास्तव में 'आदमी' की ही जमात (समूह) हो, उसके मूल्यों की क्या बात की जा सकती है, क्योंकि वे तो जन्मजात 'आदमी' हैं। इसी परिवार की 'हो' जनजाति का अर्थ भी मनुष्य है। कहते हैं- 'हो' का ही 'होर' हुआ और बाद में 'कोर' हुआ। यह बात भी मुझे भाई राधेश्याम शांडिल्य ने ही बताई थी। जब उनकी पुस्तक 'कोरकू जीवन और संस्कृति' छप रही थी, तब मैंने ही उस किताब का मुखपृष्ठ बनाया था और पं. रामनारायण उपाध्याय ने उसकी भूमिका लिखी थी। तब वह संभवतया कोरकुओं से सम्बन्धित हिन्दी में प्रकाशित पहली पुस्तक रही होगी, जिसमें उनकी जीवन पद्धति, बोली और उनके गीत सम्मिलित रहे हैं। पुस्तक छोटी अवश्य थी, लेकिन उसमें संकलित सामग्री कोरकुओं पर कार्य करने की प्रेरणा अवश्य देती थी।

उन्होंने कोरकू गहनों और वाद्यों का संकलन कार्य किया। निमाड़ी बोली की वाचिक परम्परा की लगभग विलुप्त होती मथवाड़ कथा गायन की विधा के न केवल कलाकारों को ढूँढ निकाला, बल्कि उनकी 'बावन राणाओं की लम्बी-लम्बी कथाओं' की रिकार्डिंग करवायी। उनका लित्यंतरण किया और यथासंभव उनका अनुवाद किया। दस्तावेजीकरण का यह दुर्लभ कार्य किया है। इसके लिये वे सदैव याद किये जायेंगे। यह लगभग बीस वर्ष

पूर्व की घटना है। उस समय वे मथवाड़ गाने वाले बहुत बुजुर्ग लोग थे। उनको लेकर स्वयं शांडिल्यजी उज्जैन में आयोजित 'कथा गायन' कार्यक्रम में आये थे। उन्हें मैंने वहाँ गाते हुए देखा था। पता नहीं अब वे होंगे या नहीं। असली चिन्ता यह है कि निमाड़ में अब मथवाड़ गाने वाला कोई व्यक्ति नहीं बचा है। देखते-देखते एक विधा का अवसान हमारी पीढ़ी के लिये दर्दनाक है। फिर भी शांडिल्य मथवाड़ कथाओं को शब्दार्थ में छोड़ गये हैं। इस सहयोग के लिये समस्त निमाड़ी जगत को कृत-कृत्य होना चाहिए।

भोपाल के पहले लोकनाट्य समारोह, जो भारत भवन में

आयोजित था, उसमें राधेश्याम शांडिल्यजी की सक्रियता देखने लायक थी। वे कोरकुओं के गाय ढोर चराने वाले ग्वाले, जिन्हें 'थाट्या' या गायकी कहते हैं। उनको तैयार करके लाये थे और स्वयं भी 'भुगडू' बजाते हुए, थाट्याओं की झूल पहनकर नाचे थे। लोग उन्हें प्रायः कोरकू ही पहचानते थे, क्योंकि उनमें कोरकू जीवन ऐसा रच-बस गया था कि चाहे सांस्कृतिक मंच हो अथवा सरकारी प्रचार-प्रसार हो। शांडिल्य जी सबमें कोरकू की तरह घुल-मिल जाते थे।

ऐसी चेतना के धनी इस धरती पर बार-बार नहीं आते। राधेश्याम शांडिल्य इसके अमूल्य उदाहरण थे।

## मालवी लोकानुसंधान की परम्परा और डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

‘डग-डग रोटी, पग-पग नीर’ का क्षेत्र मालवा युगों-युगों से अपने समरसतामूलक वातावरण से माव को सम्मोहित करता रहा है। यहाँ की संस्कृति धारा एक साथ शास्त्र और लोक, वेद और तंत्र, राग और विराग के तत्त्वों को आत्मसात करती हुई प्रवाहमान है। पिछले कुछ दशक मालवा की संस्कृति के लिए सौभाग्यसूचक रहे हैं, जबकि यहाँ की मीठी बोली, उल्लास भरे पर्वोत्सवों, सरस लोकाभिव्यक्तियों, मानवता के प्रति आग्रही लोकनाट्य ‘माच’ एवं रंजकता से परिपूर्ण विविधरंगी लोक साहित्य के अन्वेषण तथा अनुशीलन के प्रति नई चेतना जाग्रत हुई है। आधी शताब्दी पूर्व जाग्रत इस नवीन संचेतना के संवाहक बने थे पद्मभूषण डॉ. सूर्यनारायण व्यास, डॉ. रघुवीरसिंह, डॉ. श्याम परमार, डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय, डॉ. बसंतिलाल बम, डॉ. प्रहलाद चन्द्र जोशी, डॉ. शिवकुमार माथुर आदि। इस कड़ी में कई लोग जुड़ते चले गए, जुड़ रहे हैं। मालवी लोकसंस्कृति और परम्पराओं को यदि किसी शिखिसयत ने समूचे वैविध्य एवं विस्तार के साथ गतिमयता देकर नए युग की आधार शिला रखी है, तो वह नाम है-डॉ. प्रहलादचंद्र जोशी का। डॉ. जोशी ने मालवी पर प्रकाशित कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के द्वारा अविस्मरणीय अवदान दिया है। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं- मालवा और उपबोलियों का व्याकरण, मालवी लोककथाएँ, प्रामाणिक मालवी-हिन्दी शब्दकोश, मालवी स्वयं शिक्षक, सोंधवाड़ी साहित्य, संस्कृति और व्याकरण आदि।

15 मार्च 1938 को सुसनेर (शाजापुर) में जन्में डॉ. जोशी बाल्यावस्था से ही अपने घर और आसपास के लोक सांस्कृतिक संदर्भों से गहरे प्रभावित रहे हैं। यही रुचि उनके जीवन का पाथेय बनी। सन् 1968 में हिन्दी में स्नातकोत्तर उपाधि और फिर लोक संस्कृतिविद् डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय के सान्निध्य में लोक साहित्य के क्षेत्र में अनुसंधान सक्रियता तथा सन् 1971 में विक्रम

विश्वविद्यालय से पीएच.डी. उपाधि के 'मालवी लोककथाएँ' विषय पर शोध ग्रंथ के प्रणयन तक आते-आते वे मालवी भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में ही आजीवन कार्य करने के लिए दृढ़ संकल्पित हो चुके थे। अनेक पुस्तकों के लेखक डॉ. जोशी को अपने अनुसंधान के दौरान ही मालवी के सम्पूर्ण व्याकरण तथा शब्दकोश का अभाव खटकने लगा था। चार दशकों तक निरंतर प्राध्यापन, शोध तथा सृजन करते हुए वे स्वयं इस अभाव की पूर्ति के लिए जुटे रहे, जिसका सुफल अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के रूप में सामने आया है। इन पुस्तकों ने मालवी के विकास के लिए लगने वाले दशकों के संभावित समय को यकायक पाट दिया और ऐसा वातावरण तैयार कर दिया, जिसका लाभ लेकर मालवा के रचनाकार, समीक्षक और अनुसंधानकर्ता नए सिरे से मालवी के संवर्द्धन-उन्नयन में समर्थ हो सकते हैं। पिछले दशक में वे अपने अवसान के पूर्व कई ग्रंथों को अंतिम रूप दे रहे थे। इनमें मालवी का सांस्कृतिक इतिहास लगभग एक हजार पृष्ठों के ग्रंथ के रूप में आने वाला था, किन्तु वह उनके असामयिक निधन से प्रकाश में नहीं आ सका।

वस्तुतः उनके सभी ग्रंथ लोकभाषा मालवी की महिमा और औदात्य के सूचक हैं, जिनके रहते अब सिद्ध हो गया है कि मालवी हमारे देश की किसी भी समृद्ध लोकभाषा के समकक्ष है। फिर वह चाहे राजस्थानी हो या ब्रजी, बुंदेली हो या छत्तीसगढ़ी। दूसरे यह भी प्रमाणित हो गया है कि मालवी की अपनी स्वतंत्र पहचान है, अपना वैशिष्ट्य है और वह राजस्थानी की उपबोली नहीं, स्वतंत्र एवं समर्थ बोली है। इन निष्कर्षों तक डॉ. जोशी सायास या अचानक नहीं पहुँचे हैं। इनके लिए उन्होंने मालवा के सभी क्षेत्रों के गाँवों में घूम-घूमकर न सिर्फ लोक-साहित्य का व्यापक संकलन तथा भाषिक सर्वेक्षण किया, वरन् अन्य लोक विमर्शकों द्वारा किए गए कार्यों पर पर्याप्त विचार मंथन तथा समीक्षण करते हुए अपनी निर्भ्रांत धारणाएँ भी प्रतिपादित कीं।

गहर गंभीर मालव माटी के अनन्य आराधक डॉ. प्रहलादचंद्र जोशी कृत 'मालवी और उपबोलियों का व्याकरण' अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने न केवल अधुनातन भाषा वैज्ञानिक प्रविधियों के आधार पर मालवी एवं उसकी उपबोलियों का व्याकरण रचा है, वरन् हिन्दी की अन्य लोकभाषाओं जैसे-ब्रज, बुन्देली, राजस्थानी आदि तथा मराठी एवं गुजराती भाषाओं से तुलना कर

मालवी की सार्वभौम स्वतंत्र स्थिति का निरूपण किया है। डॉ. जोशी इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं करते हैं कि मालवी पर समीपवर्ती भाषाओं का प्रभाव भी पड़ा है, किन्तु वह किसी की उपबोली या मिश्रित भाषा नहीं है। उसका अपना विपुल लोक और शिष्ट साहित्य है। रांगड़ी, सोंधवाड़ी, उमठवाड़ी और निमाड़ी जैसी समृद्ध उपबोलियाँ हैं। इस पुस्तक का महत्त्व उपबोलियों सहित मालवी के पुनः क्षेत्र निर्धारण की दृष्टि से भी है, जो व्यापक सर्वेक्षण के अभाव में त्रुटिपूर्ण बना हुआ था। खासतौर पर सोंधवाड़ी से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य इस पुस्तक में उद्घाटित हुए हैं, जिसमें डॉ. जोशी की विशेषज्ञता सुविख्यात थी। इस ग्रंथ में लेखक ने मालवी साहित्य के उद्भव तथा उसकी विकास यात्रा के पहलुओं पर सविस्तार प्रकाश डाला है, जो इस वृहद् ग्रंथ में मालवी एवं उसके साहित्य के प्रथम पूर्ण इतिहास की संभावनाओं को भी मूर्त करता है। इस पुस्तक के विविध अध्यायों में मालवी की ध्वनियों, संज्ञा, सर्वनाम, उपसर्ग, प्रत्यय, समास, विशेषण, क्रिया आदि का सोदाहरण विवेचन किया गया है, जिसमें लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि, विश्लेषण क्षमता एवं तुलनात्मक अध्ययन मालवी के अनूठेपन को प्रमाणित करने में समर्थ सिद्ध हुए हैं।

डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी का वृहद् ग्रंथ 'मालवी और उपबोलियों का व्याकरण' मालवी ही नहीं, वरन् समूचे भारतीय संदर्भ में बोलियों के व्याकरण के क्षेत्र में अब तक किए गए कार्यों के बीच ऐतिहासिक महत्त्व का कहा जा सकता है, क्योंकि लेखक ने अपने अध्ययन क्षेत्र को मालवी तक ही सीमित न रखते हुए पश्चिमी हिन्दी एवं राजस्थानी की विविध बोलियों से मालवी की उपबोलियों की तुलना कर कई दृष्टियों से मालवी के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया है। डॉ. जोशी इस ग्रंथ में मालवी से जुड़े अनेक विवादास्पद कथनों, तर्कों एवं प्रश्नों से भी जूझते दिखाई देते हैं, जो सीमित जानकारी या अपने मत की सर्वोपरिता सिद्ध करने के कारण मालवी पर थोप दिए गए हैं। ग्रंथारंभ में ही उन्होंने दो चुनौतियों की चर्चा की है- प्रथमतः क्या मालवी का विकास अवन्तिजा अपभ्रंश से हुआ है? दूसरे ग्रियर्सन कृत सर्वेक्षणानुसार क्या मालवी की उत्पत्ति राजस्थानी की उपबोली के रूप में हुई है? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ग्रंथकार ने सुदीर्घ और अविचल साधना का मार्ग चुना। प्रथमतः तो उन्होंने मालवी के सभी उपबोलियों के क्षेत्र में घूम-घूमकर वहाँ के अछूते लोकसाहित्य का आकलन तथा

उपबोलियों के ध्वनि एवं भाषा वैज्ञानिक रूपों तथा व्याकरणिक इकाइयों का गहन अनुसंधान किया है, जो ग्रंथ के प्रथम अध्याय में सविस्तार चर्चित हैं। तदनन्तर उन्होंने नवीन सर्वेक्षण के आधार पर मालवी की भौगोलिक स्थिति पुननिर्धारित की और फिर मालवी की उपबोलियों के साथ राजस्थानी एवं पश्चिम हिन्दी की विविध बोलियों के व्याकरणिक रूपों के तुलनात्मक अनुशीलन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि- 'डॉ. ग्रियर्सन का यह कहना कतई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि यह राजस्थानी की उपबोली है, बल्कि मालवी अपने आप में सार्वभौम स्वतंत्र भाषा है-जिसका अपना विपुल साहित्य है। इन उपबोलियों का भी अपना विपुल साहित्य है।' वैसे तो लेखक ने निमाड़ी को भी मालवी की एक उपबोली के रूप में रखते हुए अपने शोध-निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, लेकिन अधुनातन संदर्भों में वे इसे 'सार्वभौम स्वतंत्र अस्तित्व' लिए एक भाषा के रूप में देखने पर भी बल देते हैं।

डॉ. जोशी को मालवी का विकास 'अवन्तिजा अपभ्रंश' से स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि वे उसे पृथक् भाषा नहीं, बल्कि एक 'रीति' मानते हैं। उन्होंने एतद् संबंधी विभिन्न विचारों के अनुशीलन-आलोचन के पश्चात् मालवी का विकासक्रम निर्धारित किया है-शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी एवं इसकी बोलियों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रांत भेद से नागर अपभ्रंश एवं उपनागर अपभ्रंश का विकास हुआ। इसी गौर्जरी नागर अपभ्रंश से गुजराती का उद्भव और विकास हुआ। किन्तु रीति भेद से उपनागर अपभ्रंश दो शाखाओं में विभाजित हो गई। प्रथम डिंगल रीति, दूसरी पिंगल रीति। डिंगल रीति से राजस्थानी एवं इसकी उपबोलियों का विकास हुआ, जबकि दूसरी शाखा पिंगल रीति से ब्रज, बुन्देली, मालवी, निमाड़ी, हरियाणवी, कन्नौजी, खड़ी बोली आदि का विकास हुआ। डॉ. जोशी ने अपनी इस मान्यता का पल्लवन ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में मालवी के व्याकरणिक रूपों की चर्चा करते हुए किया। डॉ. जोशी का यह मत निश्चय ही मालवी के लिए युगान्तरकारी उपलब्धि है, जिस पर मालवी एवं निकटवर्ती बोलियों के भाषाविदों के बीच व्यापक विमर्श होना चाहिए। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में डॉ. जोशी ने मालवी भाषा एवं साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भ को समेकित ढंग से प्रस्तुत किया है। खासतौर पर दूसरे अध्याय में उन्होंने मालवी के लोक एवं शिष्ट साहित्य के अनुशीलन से उपजे निष्कर्षों को

इतिहास बोध एवं यहाँ के साहित्य के विकास की प्रक्रिया के गुणनफल से मूर्त किया है। यहीं पर मालवी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा विकसित हुई है। लेखक ने मालवी के रचनाकारों के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए उनकी काव्य पंक्तियाँ भी उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की हैं, जिनसे हम मालवी काव्य के अनूठेपन का साक्षात् अनुभव पा सकते हैं।

इस वृहद् ग्रंथ का एक अध्याय मालवी ध्वनि प्रकरण है, जिसमें लेखक ने ध्वनि विज्ञान की अधुनातन प्रणालियों के आधार पर मालवी स्वर ध्वनियों को दर्शाते हुए उनका परिचय दिया है। तदनन्तर उच्चारण स्थान एवं प्रयत्नों के आधार पर मालवी की व्यंजन ध्वनियों का सोदाहरण परिचय दिया गया है। इस दृष्टि से लेखक ने मालवी एवं उमठवाड़ी को एक माना है, वहीं सोंधवाड़ी एवं रांगड़ी को परस्पर समकक्ष रखा है। यहाँ उन्होंने ळ, ळ्ह जैसी ध्वनियों को भी चर्चा की है, जो मालवी में उपलब्ध हैं, किन्तु हिन्दी एवं उसकी अधिकांश बोलियों में सर्वथा अनुपलब्ध हैं। इसी अध्याय में उन्होंने मालवी एवं उपबोलियों में ध्वनि परिवर्तन के विविध रूपों, ध्वनि संबंधी नियमों, अर्थ परिवर्तन, वाक्य विचार आदि सोदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अंत में पश्चिमी हिन्दी की बोलियों से तुलना भी की है।

ग्रंथ के एक अध्याय में मालवी के संज्ञा शब्दों पर उनके लिंग तथा वचन सहित विचार हुआ है। उनके अनुसार मालवी एवं इसकी बोलियों की प्रकृति एकवचनीय रूप में 'ओकारान्त' तथा बहुवचनीय रूप में आकारान्त हो जाती है। इसी परिप्रेक्ष्य में लेखक ने मालवी के अविकारी, विकारी संज्ञा रूपों तथा स्वरान्त एवं व्यंजनांत प्रातिपादिक संज्ञा एवं व्यंजनारंभ संज्ञा शब्दों का उदाहरण सहित विवेचन किया है। इस शब्दावली से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कई शब्द और उनके प्रत्यययुक्त रूप सिर्फ मालवी में ही उपलब्ध हैं। जैसे-गमेड़ल्यो, बापड़ो, घरे, साथे आदि।

ग्रंथ में मालवी के सर्वनाम शब्दों का सविस्तार परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य आदर्श मालवी एवं उसकी उपबोलियों में प्रयुक्त सर्वनाम रूपों की व्युत्पत्ति की खोज एवं उनमें परस्पर तथा पश्चिमी हिन्दी की बोलियों से तुलना में निहित है। ग्रंथ के एक अध्याय में मालवी में प्रयुक्त अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय और समाज का भेदोपभेद सहित निरूपण किया गया है।

इस विवेचन से जहाँ मालवी की रूप रचना का परिचय मिलता है, वहीं शब्द-समूह का भी बोध होता है। इसी अध्याय में लेखक ने मालवी में प्रयुक्त विविध वर्गों के अड़सठ उपसर्गों का सोदाहरण परिचय दिया है, जिसके कतिपय उदाहरण अवश्य त्रुटिपूर्ण हैं, जैसे 'म' परसर्ग से 'मगरमच्छ', 'मछलांदो' या 'नर' से 'नरकपड्यो', 'हि' से 'हिमायती' या फिर 'नस' से नसड़ल्यो आदि। यहीं डॉ. जोशी द्वारा प्रस्तुत चालीस प्रत्ययों की सूची में भी कुछ दोष आ गए हैं, जैसे 'आर' प्रत्यय के संयोग से चौकीदार, जमादार आदि की निर्मित बनाई गई है, जबकि इनमें फारसी विशेषण 'दार' (रखने वाला) का संयोग हुआ है।

ग्रंथ का एक अध्याय मालवी के रूप तत्त्व पर केन्द्रित है, जिसमें लेखक ने मालवी एवं उपबोलियों में बहुप्रयुक्त विशेषणों का सोदाहरण परिचय दिया है। एक अध्याय मालवी क्रिया रूपों पर एकाग्र है। इसमें लेखक ने विभिन्न प्रकार की मालवी क्रियाओं का परिचय देते हुए उनकी व्युत्पत्ति भी दर्शायी है। इसी संदर्भ में उन्होंने पृथक् से देशी धातुओं से निर्मित क्रिया रूपों की सूची भी दी है, किन्तु इस सूची में संस्कृत या परवर्ती भाषाओं से निःसृत कुछ क्रिया शब्द भी आ गए हैं। जैसे-वांची दूंगा, रोइरया, पीवां, पदूज आदि। इसलिए इन्हें देशज मानना उचित नहीं है। ग्रंथ में मालवी क्रिया विशेषणों का परिचय भी विस्तारपूर्वक दिया गया है।

लेखक ने संपूर्ण अनुशीलन के आधार पर उपसंहार में मालवी की स्वतंत्र स्थिति को कई कोणों से प्रमाणित किया है। यहाँ वे मालवी की चार उपबोलियों सोंधवाड़ी, रंगड़ी, उमठवाड़ी, और निमाड़ी, जिन्हें बोलने वालों की संख्या दो करोड़ से अधिक है, में अन्तर्निहित पार्थक्य के आधार पर मालवी को राजस्थानी की एक उपबोली मात्र मानने के विचार को भ्रामक सिद्ध करते हैं। रीति, दूरी एवं ध्वनिगत भेद के आधार पर भी डॉ. जोशी ने अपनी मान्यता को पुष्ट किया है। उन्होंने राजस्थानी की उपबोलियों-हाड़ौती, मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, मेवाड़ी तथा पश्चिमी हिन्दी की अनेक बोलियों से मालवी की तुलना कर इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि मालवी अपने आपमें पूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व वाली भाषा है। जिसकी अपनी चार-चार उपबोलियाँ हैं।' (पृ. 469) यह व्यापक फलक वाले इस ग्रंथ की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

वस्तुतः इस ग्रंथ के माध्यम से डॉ. जोशी ने न सिर्फ

मालवी-प्रेमियों की बरसों से जारी प्रतीक्षा को समाप्त कर दिया, वरन् मालवी के विकास के लिए दशकों की संभावित यात्रा को यकायक कुछ एक वर्षों में समेट दिया है। इस ग्रंथ के साथ ही डॉ. जोशी के ग्रंथ 'प्रामाणिक मालवी-हिन्दी कोश', 'मालवी स्वयं शिक्षक', सौंधवाड़ी साहित्य संस्कृति और व्याकरण आदि भी मालवी की समृद्धता के सूचक हैं, जिनकी उपस्थिति से यह सिद्ध हो गया है कि मालवी हमारे देश की किसी भी अन्य समृद्ध लोकभाषा के समकक्ष रखी जा सकती है, चाहे वह राजस्थानी हो या ब्रजी अथवा बुन्देली।

डॉ. जोशी का कोश ग्रंथ 'प्रामाणिक मालवी-हिन्दी कोश' उनके पच्चीस वर्षों के परिश्रम एवं पुरुषार्थ का द्योतक है। यद्यपि अनेक मालवी प्रेमियों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किए, किन्तु वे या तो अत्यंत सीमित शब्दों को समेट सके या प्रकाशन की बाट जोहते रहे। इस कोष के माध्यम से लेखक ने मालवी के मानक रूपों के निर्धारण का भी कार्य किया है, जो लम्बे समय से उपेक्षित था। इसी तरह यह ग्रंथ अनेक मालवी लोकोक्तियों, मुहावरों तथा विशिष्ट प्रयोगों को भी समाहित किए हुए है, जो मालवी की खास पहचान को निर्धारित करते हैं। इस कोश ग्रंथ का आगमन मालवी की ऐतिहासिक उपलब्धि सिद्ध हुआ।

डॉ. जोशी की पुस्तक 'मालवी स्वयं शिक्षक' उज्जैन में स्थित श्री कावेरी शोध संस्थान से प्रकाशित हुई, जिसके माध्यम से लेखक ने मालवी और उसकी उपबोलियों के सहज शिक्षण का मार्ग उद्घाटित किया है। इस पुस्तक की विशेषता है कि हिन्दी जानने वाला कोई भी व्यक्ति बिना किसी अन्य व्यक्ति या शिक्षक की सहायता के स्वयं मालवी लिखना और बोलना सीख सकता है। डॉ. जोशी ने इसमें विभिन्न उपबोलियों सहित आदर्श मालवी की ध्वनियों, शब्द समूह, वाक्य विन्यास आदि को स्पष्ट करने के साथ ही मालवी की पहचान को निर्धारित करने वाले विशिष्ट प्रयोगों को भी स्थान दिया है। शिक्षार्थी इस पुस्तक से मालवी के बहुप्रयुक्त मुहावरों, कहावतों तथा पारसियों के व्यावहारिक पक्ष में भी पारंगत हो सकते हैं। इस किताब का महत्त्व मालवी एवं उसकी उपबोलियों में सक्रिय रचनाकारों, समालोचकों तथा शोधकों के लिए भी है, जो मानक रूपों के निर्धारण तथा मालवी की विभिन्न उपबोलियों के पहचान बिन्दुओं को जानने के लिए इस पुस्तक की सहायता ले सकते हैं।



गहन-गम्भीर मालवा देश के हृदय प्रदेश के रूप में युगों-युगों से गौरव-चिह्न बना हुआ है। यहाँ की घरू बोली 'मालवी' और उसमें रचित लोक एवं शिष्ट साहित्य की सरसता व्यापक तौर पर मान्य रही है। यहाँ के विविध लोक-कलानुरंजन, पर्वोत्सव और लोकाचार विशिष्ट पहचान रखते हैं। मालवी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति को लेकर विमर्श की शुरुआत अपेक्षाकृत कुछ विलम्बित हुई। प्रारंभिक मनीषियों के प्रयासों ने इसे पर्याप्त ऊर्जा और गति दी। इस शृंखला में कई लोग जुड़े और जुड़ रहे हैं। सुविख्यात लोकवेत्ता डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी एक ऐसी कड़ी के रूप में सामने आये, जिनके बिना मालवी को समर्थता के साथ नवागत शताब्दी में ले जाने की कल्पना करना मुश्किल होता। उनकी कृति 'सोंधवाड़ी साहित्य, संस्कृति और व्याकरण' नई शताब्दी की दहलीज पर गतिशील बनी हुई मालवी के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

डॉ. जोशी ने अपने जीवन का बहुलांश, या यूँ कहें सब कुछ, मालवी भाषा, साहित्य और संस्कृति के लिये अर्पित कर दिया। उनके जैसे साधक अब सर्वथा विरल होते जा रहे हैं। यह मालवा का गौरव ही है कि उसके वैशिष्ट्य को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करने के लिये डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी जैसा महर्षि तुल्य व्यक्तित्व और उनका महिमाशाली कृतित्व सुलभ हुआ। ऐसा नहीं है कि डॉ. जोशी ने इस स्थिति को सुगमता से पा लिया हो, वरन् उन्होंने बड़ा दुरूह और श्रम साध्य मार्ग अपनाया है और आजीवन उस पर चलते रहे। सोंधवाड़ी साहित्य संस्कृति और व्याकरण पुस्तक के पीछे उनकी अनेक दशकों की अविरल साधना थी। उन्होंने बगैर किसी अनुदान और समूह के गाँव-गाँव में घूमकर मालवा का मूलभूत भाषा सर्वेक्षण किया। इसके साथ ही उन्होंने अनेक निकटवर्ती बोलियों का गहन अध्ययन एवं परस्पर तुलना कर मालवी को भौगोलिक क्षेत्र, भाषा-वैज्ञानिक एवं व्याकरणिक निष्कर्षों के आधार पर सार्वभौम स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थापित करने का समर्थ प्रयत्न किया। मालवी की एक बोली सोंधवाड़ी पर केन्द्रित पुस्तक भी एक तरह से उनकी इसी अवधारणा को पुष्ट करती है कि चूँकि मालवी की अपनी अनेक उपबोलियाँ हैं, उनका अपना समृद्ध साहित्य है, तो मालवी कैसे किसी अन्य बोली की उपबोली हो सकती है?

देखा गया है कि किसी बोली और उसके सांस्कृतिक संदर्भों को लेकर किये जाने वाले कार्य प्रायः उपेक्षा के शिकार होते

रहे हैं, साथ ही इस दिशा में अत्यधिक परिश्रमपूर्वक किये गये अनुसंधानों को अपेक्षानुरूप यश भी नहीं मिलता है। इन बातों को डॉ. जोशी ने न सिर्फ नजरअंदाज किया, वरन् अपने अनवरत शोध-अनुशीलन-लेखन से इस तरह के प्रतिमानों को पलट दिया। उनके काम को राष्ट्रीय पहचान मिली है और मालवी की प्रस्थापना की विलम्बित गति द्रुततर हुई। उनके उनके द्वारा विशिष्ट ग्रंथों का आगमन मालवी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में ऐतिहासिक उपलब्धि के रूप में दर्ज हो गया है। ऐसे कीर्तिमानी ग्रंथों की शृंखला में उन्होंने 'सोंधवाड़ी साहित्य, संस्कृति और व्याकरण' शीर्षक कृति का प्रणयन कर मालवी की किसी उपबोली पर सर्वप्रथम स्वतंत्र पुस्तक खिलने का गौरव हासिल किया है।

प्रस्तुत कृति का मूल लक्ष्य मालवी की चार उपबोलियों - राँगड़ी, उमठवाड़ी, निमाड़ी और सोंधवाड़ी में से अन्तिम के व्याकरण, उसमें रचे गये लोक-साहित्य तथा सोंधवाड़ी, लोक-संस्कृति से परिचित करवाना है, जिनमें से प्रथम लक्ष्य की पूर्ति में यह कृति सर्वाधिक सफल रही है। सोंधवाड़ी संस्कृति एवं साहित्य की पीठिका भी इस पुस्तक से तैयार हो गई है, जिसके प्रसार-पल्लवन की गुंजाइश अभी शेष है। इस पुस्तक के कुल बारह अध्यायों में से दस अध्याय सोंधवाड़ी के व्याकरण पर केन्द्रित हैं। इसीलिये संस्कृति एवं साहित्य की चर्चा को अपेक्षित विस्तार नहीं मिल सका।

पुस्तक का प्रारंभिक अध्याय मालवा, मालवी और सोंधवाड़ी का सामान्य परिचय देने के साथ ही उनसे जुड़े इतिहास एवं अनुश्रुतियों की छानबीन करता है। इस अध्याय का वैशिष्ट्य मालवी को राजस्थानी की उपबोली मानने के आग्रहों के साधार निराकरण में नजर आता है। जो ग्रियर्सन के अनुसरण में प्रचलन में आ गये हैं। डॉ. जोशी विभिन्न समीपवर्ती बोलियों की पारस्परिक तुलना से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं- डॉ. ग्रियर्सन का यह कहना कतई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि यह राजस्थानी की उपबोली है, बल्कि मालवी अपने आप में सार्वभौम स्वतंत्र भाषा है, जिसका अपना विपुल साहित्य है, स्वतंत्र इतिहास है, स्वतंत्र उपबोलियाँ हैं। इन उपबोलियों का भी अपना विपुल साहित्य है।' इस निष्कर्ष तक पहुँचना डॉ. जोशी जैसे गहन अनुसंधित्सु से ही संभव था, जिन्होंने मालवा का व्यापक भाषाई-सांस्कृतिक समन्वेषण किया है।

डॉ. जोशी का सोंधवाड़ी से गहरा लगाव था, जिसके क्षेत्र में स्थित सुसनेर नगर में वे स्वयं जन्मे-पले-बढ़े थे। सोंधवाड़ी क्षेत्र अपने विविधरंगी कला-रूपों, क्षेत्र से जुड़ी अनेक जनश्रुतियों, लोक मान्यताओं और विशिष्ट लोकाचारों के लिये मुझे भी निरंतर आकृष्ट करता रहा है। यह क्षेत्र अपनी भाषिक प्रवृत्ति के साथ ही लोकजीवन के आयामों की दृष्टि से मालवा में अपनी अलग पहचान रखता है। डॉ. जोशी ने राजस्थान एवं मालवा की सीमा के आसपास फैले इस क्षेत्र में बसने वाले सोंधिया क्षत्रिय समाज की भाषा एवं सांस्कृतिक संदर्भों का गहराई से अध्ययन किया था, जो इस ग्रंथ के दूसरे अध्याय में विवेचित हुए हैं। इस अध्याय में उन्होंने सोंधवाड़ी का क्षेत्र एवं उसकी सीमा-रेखा पुष्ट प्रमाणों के आधार पर निर्धारित की है। इसके साथ ही उन्होंने सोंधवाड़ की शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक स्थिति की भी पड़ताल की है। सोंधिया जाति की उत्पत्ति एवं मालवा में आगमन से जुड़े विभिन्न मतों का अनुशीलन भी इसी अध्याय में हुआ है। उन्होंने सोंधवाड़ी के क्षेत्र को लेकर पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मतों की भी समीक्षा की है। यहाँ डॉ. जोशी सोंधवाड़ी क्षेत्र के निर्धारण के लिये व्याकरणिक एवं भाषावैज्ञानिक रूपों के आधारों को लेकर चले हैं, जो अन्य धरातलों की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत है। इसी आधार पर उन्होंने सोंधवाड़ी लोक-संस्कृति से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीकों की भी चर्चा की है। सती गोरों माता की कथा तथा आलोट-सोंधवाड़ क्षेत्र में 1857 ई. के आसपास जारी रहीं विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को लेकर मेरे द्वारा किये गये अनुसंधान के आधार पर डॉ. जोशी ने इस क्षेत्र के इतिहास एवं संस्कृति के कुछ खास पहलुओं की पड़ताल की है।

पुस्तक का एक अध्याय 'सोंधवाड़ी लोक-साहित्य और संस्कृति' शीर्षक लिए है, जिसमें लेखक ने इस क्षेत्र में स्वयं के द्वारा किये गये साहित्यिक सर्वेक्षण का संक्षिप्त विवरण दिया है। साथ ही सोंधवाड़ी बोली की कुछ पहचान सूचक प्रवृत्तियों का भी स्पष्टीकरण किया है। वस्तुतः सोंधवाड़ी लोक-साहित्य एवं संस्कृति का अनुशीलन स्वतंत्र पुस्तकों की अपेक्षा रखता है। यही वजह है कि प्रस्तुत कृति सोंधवाड़ी के व्याकरण पक्ष को समेटने की दृष्टि से तो परिपूर्ण है, किन्तु इसके साहित्य एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश विकीर्ण नहीं हो सका।

ग्रंथ के अंतिम आठ अध्यायों में डॉ. जोशी ने सोंधवाड़ी

बोली का व्याकरण प्रस्तुत किया है, जहाँ पर्याप्त उदाहरणों के साक्ष्य पर अन्य बोलियों से तुलना द्वारा इसका विशिष्ट व्यक्तित्व आकार लेता नजर आता है। एक अध्याय में सोंधवाड़ी ध्वनि एवं वर्णों पर विचार हुआ है। उनकी दृष्टि में सोंधवाड़ी में 8 स्वर ध्वनियाँ और 28 व्यंजन ध्वनियाँ हैं। यहीं उन्होंने उच्चारण स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर सोंधवाड़ी व्यंजन ध्वनियों का सोदाहरण विवेचन किया है। इसके साथ ही उन्होंने विभिन्न भाषा वैज्ञानिक निकषों के आधार पर सोंधवाड़ी का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है। एक अध्याय वाक्य-विचार पर एकाग्र है, जिसमें विभिन्न प्रकार के वाक्यों के उदाहरण सोंधवाड़ी से प्रस्तुत किये गये हैं।

पुस्तक का एक अध्याय सोंधवाड़ी संज्ञा-प्रकरण और सातवाँ अध्याय सर्वनाम प्रकरण है, जिनमें भाषा वैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग करने के साथ ही उन्होंने अनेक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा अभ्यासार्थ कार्य भी दिया है। ग्रंथ के एक अध्याय में सोंधवाड़ी में रूप-रचना, शब्द-समूह, अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय एवं समाज की सोदाहरण विवेचना की गई है। एक अध्याय रूप-तत्त्व पर केन्द्रित हैं, जिसमें डॉ. जोशी ने सोंधवाड़ी के विशेषणों का परिचय दिया है। इसमें प्रस्तुत अनेक विशेषण-रूप ऐसे हैं, जो सोंधवाड़ी के अतिरिक्त अन्य समीपवर्ती बोलियों में सर्वथा दुर्लभ हैं।

पुस्तक का एक अध्याय सोंधवाड़ी क्रिया रूपों पर एकाग्र हैं, जिसमें लेखक ने अनेक उदाहरण जुटाकर इस बोली के गठन में प्रभावी रहे कारकों की भी मीमांसा की है। इसी तरह यहाँ सोंधवाड़ी सहायक क्रियाओं का भी विकासात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने अन्य निकटवर्ती बोलियों से तुलना के आलोक में सोंधवाड़ी क्रिया-रूपों का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है। अन्त में सोंधवाड़ी के शिक्षार्थियों के लिये अभ्यासार्थ वाक्य प्रस्तुत किए हैं।

पुस्तक का एक अध्याय सोंधवाड़ी क्रिया-विशेषणों का निदर्शन करवाता है। यहाँ भी विभिन्न भेद-प्रभेदों के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके आधार पर सोंधवाड़ी का व्यक्तित्व पृथक् दिखाई देता है। पुस्तक के उपसंहार में डॉ. जोशी ने इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। इस अध्याय के खण्ड 'क' में उन्होंने सोंधवाड़ी उपबोली की ऐसी विशेषताएँ

चिन्हित की हैं, जो अन्य समीपस्थ बोलियों में किंचित् उपलब्ध या सर्वथा अनुपलब्ध हैं। इनमें प्रमुख हैं-‘ब’ का ‘व’ में परिवर्तन, ‘ण’ ध्वनि का बाहुल्य, राजस्थानी की अपेक्षा अधिक मधुरता, मालवी की महाप्राण ध्वनियों का इसमें लोप, आकर्षक स्थानवाची क्रिया-विशेषण रूप, शब्द-सम्पदा, अव्यय, उपसर्ग रूप, सामासिक रूप आदि। खण्ड ‘ख’ में डॉ. जोशी ने सोंधवाड़ी के विभिन्न ग्रामों से प्राप्त गद्य के नमूने प्रस्तुत किये हैं, जो इस बोली के अध्येताओं के लिये महत्वपूर्ण होने के साथ ही इसे सीखने वाले व्यक्ति के अभ्यास हेतु भी उपयोगी सिद्ध होंगे। खण्ड ‘ग’ में लेखक ने सोंधवाड़ी की सर्वाधिक निकटवर्ती स्थान की उपबोली ‘हाड़ौती’ से तुलना की है। इस तुलना से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि दोनों में अनेक समानताओं के बावजूद पर्याप्त पार्थक्य है। इन दृष्टि से सोंधवाड़ी मालवी की एक उपबोली के रूप में मालवी का उत्तरी क्षेत्र एवं विस्तार निर्धारित करती है और मालवी के सार्वभौम स्वतंत्र अस्तित्व को भी प्रमाणित करती है।

डॉ. जोशी कृत ‘सोंधवाड़ी साहित्य संस्कृति और व्याकरण’ मालवी ही नहीं, वरन् देश की किसी भी बोली की उपबोली के व्याकरण-निर्माण की दृष्टि से रेखांकनीय है। लेखक यहाँ मात्र व्याकरणिक रूपों की प्रस्तुति तक ही नहीं रुका है, वरन् उनसे आगे जाकर अधुनातन भाषा-वैज्ञानिक सिद्धांतों का निर्वाह करता हुआ सोंधवाड़ी का निकटवर्ती बोलियों के परिप्रेक्ष्य में स्वरूप निर्धारित करने में भी सजग रहा है। जोशीजी की यह शोध-सजगता पुस्तक में आद्यंत उपस्थित है। सोंधवाड़ी के सीमांकन से लेकर इतर बोलियों से उसके वैशिष्ट्य निर्धारण तक डॉ. जोशी ने एक श्रेष्ठ शोधकर्ता की तरह श्रमसाध्य यात्रा की, पुस्तक के पृष्ठ-दर-पृष्ठ इस यात्रा की गति और अवरोधों को महसूस किया जा सकता है। उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती कृति ‘मालवी और उपबोलियों का व्याकरण’ की अवधारणाओं को इस पुस्तक द्वारा और अधिक परिपुष्ट बना दिया है, जहाँ पहुँचकर मालवी की पहचान एक सार्वभौम स्वतंत्र भाषा के रूप में सहज ही हो जाती है। उनका यह प्रयास आश्वस्तजनक तो है ही समूचे भारत की बोलियों एवं उनकी उपबोलियों के लिये पथप्रदर्शक और गौरवपूर्ण कहा जा सकता है।

डॉ. प्रहलादचंद्र जोशी का वृहद् ग्रंथ ‘मालवी लोककथाएँ’ मूलतः विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की पी-एच.डी. शोधोपाधि

हेतु लिखा गया था, जिसका प्रकाशन सार्थक प्रकाशन, दिल्ली से 2000 ई. में हुआ। यह ग्रंथ डॉ. जोशी की अथक साधना, अटूट धैर्य और गंभीर अध्यवसाय का प्रतीक है। डॉ. जोशी ने इस ग्रंथ के माध्यम से एक ओर भारतीय लोककथा परम्परा के उत्स, उसके वैशिष्ट्य और विकासयात्रा का आकलन किया, वहीं उनके पैटर्न की भी पड़ताल की है। इस ग्रंथ के माध्यम से डॉ. जोशी भारत के हृदय अंचल मालवा की लोककथाओं का कोना-कोना छान आए हैं। उन्होंने लोककथाओं के वर्गीकरण के विभिन्न आधारों की चर्चा के पश्चात् स्वयं के द्वारा तीन सौ से अधिक संकलित लोककथाओं का वर्गीकरण किया है-जातिगत, सामाजिक, धार्मिक, कौतूहल मनोरंजन एवं हास्य संबंधी जादू एवं चमत्कारिक, कृषि संबंधी, पशु-पक्षी संबंधी, ऐतिहासिक, बालकथाएँ तथा कहावतों की कथाएँ। पुस्तक में विभिन्न अध्यायों में उन्होंने प्रायः इसी वर्गीकरण को दृष्टिगत रखते हुए लोककथाओं की विवेचना की है। इसके साथ ही उन्होंने कुछ नए आधार भी लिए हैं-जैसे स्त्रियों की लोककथाएँ, प्रकृति चित्रण आदि। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड की अध्यायवार योजना है-भारतीय लोककथा के तत्त्व, मालवा की लोककथाएँ, वाचकों की लोककथाएँ, स्त्रियों की लोककथाएँ देवी-देवताओं से संबंधित लोककथाएँ, मनोरंजक एवं नीतिप्रद लोक-कथाएँ, मालवी लोककथाओं में अभिव्यक्त लोकसंस्कृति, रूढ़ियाँ एवं अभिप्राय, लोककथाओं में प्रकृति वर्णन, मालवी लोककथाओं में भावपक्ष एवं कलापक्ष एवं मालवी लोककथाओं का महत्त्व। दूसरे खंड में उन्होंने मालवी गीत कथाओं तथा भक्ति संबंधी कथाओं के विवेचन के पश्चात् परिशिष्ट के अंतर्गत मालवी कथा कोश, शब्दकोश, लोककथा संग्रह सूची तथा मालवी गीत कथाएँ मूल रूप में प्रस्तुत की हैं।

डॉ. जोशी ने इस ग्रंथ के माध्यम से जहाँ वैश्विक संदर्भ में लोककथाओं की प्रसार भूमि की पड़ताल की है, वहीं भारत या विश्व संदर्भ में प्रसारित कई लोककथाओं के साथ मालवी लोककथाओं की तुलना भी की है। उन्होंने विभिन्न प्रकार की लोककथाओं के पार्श्व में निहित लोकमानस, ऐतिहासिक, पौराणिक संदर्भ, सामाजिक मूल्य एवं मान्यताओं, मनोविज्ञान, धार्मिक आस्था आदि का पर्याप्त विवेचन किया है। मालवी लोककथाओं में अन्तर्निहित कथानक रूढ़ियों और अभिप्रायों पर भी डॉ. जोशी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनमें वे अतिमानवीयता, भाग्यवाद,

प्रतीकात्मक, पुनर्जन्म, चमत्कार आदि के साथ ही विभिन्न प्रकार की लोक मान्यताओं को आधार रूप में पाते हैं। उन्होंने विभिन्न भाव दशाओं, कथाशिल्प, संगीत तत्त्व आदि की दृष्टि से भी लोककथाओं का विवेचन कर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं। उन्होंने लोककथाओं की विविध दृष्टियों से अर्थवत्ता भी तलाशी है। कहीं वे धार्मिक आस्थाओं को आधार देती हैं, तो कहीं नैतिकता का पाठ पढ़ाती हैं, कहीं उनका महत्त्व सामाजिक दृष्टि से है, तो कहीं ऐतिहासिक-भौगोलिक दृष्टि से, कहीं वे भाषाशास्त्रीय महत्त्वपूर्ण सामग्री देती हैं, तो कहीं जीवन में परिवर्तन लाने में उपयोगी सिद्ध होती हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ व्यापक परिप्रेक्ष्य में मालवी लोककथाओं का आकलन करते हुए विश्वकोशीय भूमिका बनाता है। इसके आधार पर भारतीय लोककथा परम्परा के अमूल्य रत्नों की खोज-परख संभव हो सकती है।

मालवी भाषा, साहित्य और संस्कृति के वैशिष्ट्य को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने में सक्रिय रहे डॉ. जोशी के सभी ग्रंथ किसी भी बोली के लिए गौरव चिह्न हैं। इनके आगमन से लोकाभिव्यक्ति के समर्थ माध्यम के रूप में मालवी की भूमिका रेखांकित हुई है, वहीं मालवी के बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है। डॉ. जोशी के ग्रंथ आश्वस्त करते हैं कि मालवी बोली से जुड़ी संचेतना की मंद पड़ती धारा पुनः गति एवं ऊर्जा पा सकेगी, जिसके लिए मालवजनों के सचेष्ट एवं सामूहिक प्रयासों की जरूरत गंभीरता से महसूस की जा रही है। डॉ. जोशी इस दृष्टि से अद्वितीय लोकवेत्ता सिद्ध होते हैं।